

युग निष्पाण

क्या संभव है ?



युग निर्माण क्या संभव है ?

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११

मूल्य : १.०० रुपये

प्राक्कथन

युग निर्माण के प्रति आज सर्वत्र शंका का वातावरण है । लोग इस बात पर विश्वास नहीं कर पा रहे हैं कि परमपूज्य गुरुदेव का युग निर्माण का सपना कैसे साकार हो सकेगा ? पर वे यह भूल जाते हैं कि गुरुदेव ने इसका सूत्र भी निर्धारित कर दिया था । वह सूत्र है, 'युग निर्माण कैसे होगा, व्यक्ति के निर्माण से ।' हम व्यक्ति निर्माण की मूल बात को भूलकर दूसरों को सुधारने की बात अधिक करते हैं । इससे सर्वत्र दुख का ही वातावरण बनता है ।

इसी प्रकार विभीषण ने भी रामचंद्र जी के समक्ष अपनी शंका प्रस्तुत की थी कि वे रावण को परास्त करके 'निश्चर हीन करौं महि' का अपना संकल्प कैसे पूरा करेंगे जबकि उनके पास कोई साधन नहीं है । भगवान राम ने विभीषण को आश्वस्त किया था कि उनके पास उत्तम चरित्र और सुदृढ़ व्यक्तित्व की जो शक्ति है वह संसार की सभी विपत्तियों का सामना करने में सक्षम है । व्यक्ति निर्माण के जो २४ आधार उन्होंने बताए थे उनका सरल वर्णन इस पुस्तक में है । परमपूज्य गुरुदेव वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य ने मानव जीवन को उत्कृष्ट बनाने के उद्देश्य से विपुल साहित्य की रचना की थी । उसी में से कुछ अंश इस पुस्तक में संकलित किए गए हैं । इसका स्वाध्याय करके और इन बिंदुओं पर चिंतन मनन करके आप भी अपना जीवन सुधार सकते हैं तथा युग निर्माण की संभावना को साकार कर सकते हैं ।

—प्रकाशक

युगा निर्माण क्या संभव है ?

इन दिनों की अशुभ संभावनाओं के संबंध में खगोल विज्ञानी कहते हैं कि सूर्य पर इन्हीं दिनों भयंकर विस्फोट कलंक उभरते जा रहे हैं। उनकी ज्यालाएं लाखों मील ऊँची लपकेंगी और असाधारण ऊर्जा अंतरिक्ष में फैलेगी। उनका प्रभाव पृथ्वी के पदार्थों और प्राणियों पर बुरा पड़ेगा। यह विधातक प्रक्रिया कई वर्षों तक चलती रहेगी। अंतरिक्ष विज्ञानी अंतग्रही परिस्थितियों के कारण धरती के वातावरण में तापमान बढ़ने और उससे संचित हिम भंडार गलने की बात कहते हैं। उससे जल प्रलय जैसे घटनाएं घटित हो सकती हैं। भूगोल का पर्यवेक्षण करने वाले बताते हैं कि यंत्रों से बढ़ते वायु प्रदूषण से अगले दिनों घुटन पैदा होगी। बढ़ता हुआ कोलाहल विक्षिप्ता उत्पन्न करेगा।

अणु विस्फोट से उत्पन्न विषाक्त विकिरण से जीवन शक्ति का भयानक ह्रास होगा। भूगर्भ वेत्ता बताते हैं कि पेय जल, ईंधन तथा खनिज संपदा का जिस गति से दोहन हो रहा है, उसे देखते हुए इन जीवन साधनों से धरती के दिवालिया हो जाने का खतरा है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के पर्यवेक्षक कहते हैं कि भय, लोभ और अविश्वास के तत्व शासनाध्यक्षों के मन में बुरी तरह घुस रहे हैं। फलतः तीसरे महायुद्ध का शुभारंभ हो चुका है। अणु आयुधों के बास्तविकाने में एक चिनगारी पड़ने की देर है कि विस्फोट से धरती की स्थिति विषाक्त बादलों से भर जाएगी। फलतः प्राणियों का अस्तित्व इस रूप में नहीं बच सकेगा जैसा आज है।

नृतत्व विज्ञानी कहते हैं कि बढ़ती हुई जनसंख्या अपने समय की सबसे बड़ी समस्या है। कुछ दिनों में इस अनियंत्रित प्रजनन पर भूख, प्यास, युद्ध और महामारी की गाज गिरेगी और फलतः यह अवांछनीय प्रजनन स्वयं तो मरेगा ही, घरती की परिस्थितियों को भी इस योग्य न रहने देगा जिसमें बचे हुए लोगों को निर्वाह मिल सके।

शरीर शास्त्री कहते कि लोगों की आदतें इस प्रकार बिगड़ चुकी हैं कि अभक्ष्य, अचिंत्य चिंतन, अकृत्यों का अनुसरण जो प्रतिक्रिया उत्पन्न कर रहा है उसके फलस्वरूप स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन वाले व्यक्ति कहीं खोजने पर भी नहीं मिल सकेंगे। दुर्बलता और विक्षिप्तता का दौर इस प्रकार बढ़ेगा कि चिकित्सकों से उस व्यापक पतन की रोकथाम संभव न हो सकेगी।

समाजवेत्ता कहते कि स्वार्थपरता, संग्रह विलास और उपभोग की लिप्सा, पारस्परिक स्नेह, सहयोगी की उन परंपराओं को नष्ट करके रहेगी, जिसके आधार पर मानवी विकास संभव हुआ है। अनुशासन की अवहेलना, उच्छृंखलता में गर्व, अपराधों पर अनियंत्रण की स्थिति जिस क्रम से बढ़ रही है, उससे समाज संस्था में आदर्श नाम की कोई चीज बच नहीं पाएगी। लोग भूखे भेड़िए की तरह एक दूसरे पर घात प्रतिघात लगाते और आत्मघात के शिकार बनते पाए जाएंगे।

यह सभी संभावनाएं उन मूर्धन्य लोगों ने व्यक्त की हैं जिनके निष्कर्ष तथ्यपूर्ण और प्रामाणिक माने जाते हैं। इन समस्याओं के रहते भविष्य अंधकारमय लगता है। जिनके हाथ में भाग्य निर्धारण की शक्ति है वे पारस्परिक अविश्वास के वातावरण में रह रहे हैं और ऐसा कुछ कर नहीं पा रहे हैं कि विनाश के प्रवाह को रोकने और विकास के ठोस आधार खड़े करने में सफल हो सकें। वे भी चिंतित और निराश दीखते हैं। दो हाथ जोड़ने का प्रयत्न करने पर

रस्सी चार हाथ अन्यत्र से टूटने लगे तो प्रयत्नकर्ताओं को भी हार मानते देखा जाता है ।

ऐसे ही अनेक कारणों को दृष्टि में रखते हुए सूक्ष्मदर्शिओं ने सन १९८० से २००० के मध्यवर्ती २० वर्षों को अव्यवस्था, विक्षेप और विपत्ति से भरे पूरे बताया है । इन प्रतिपादनों की एक संगति यह भी बैठती है कि युग परिवर्तन की संधि बेला आ गई । उसमें ऐसी उलट पुलट होनी स्वाभाविक है । असुरता अपना स्थान छोड़ते छोड़ते जीवन मरण की लड़ाई लड़ेगी । देवत्व को भी इन्हीं दिनों सत्तारूढ़ होना है । इसीलिए प्राचीनकाल के देवासुर संग्राम की तरह इन दिनों भी व्यापक विघ्रह दृष्टिगोचर हो और उससे सामान्य जनजीवन में अस्त व्यस्तता उत्पन्न हो तो उसे अप्रत्याशित नहीं माना जाना चाहिए ।

अपने युग का महादैत्य आस्था संकट है । वह जनमानस की गहरी परतों तक प्रवेश पाने में सफल हो गया है । इतनी गहराई तक भौतिक उपाय, उपचारों का प्रवेश नहीं हो सकता । दलदल में धंसे हाथी को चतुर हाथी ही अपनी बुद्धिमत्ता के सहारे बाहर निकाल पाते हैं । अनास्था के निराकरण में भाव श्रद्धा की प्रखरता ही समर्थ हो सकती है । इसीलिए इस बार युग अवतार 'ब्राह्मी प्रज्ञा' के रूप में हो रहा है ।

युग परिवर्तन जैसा महत्कार्य ऐसे सामर्थ्यवानों के बल पर ही संभव है । यह प्रयास केवल आत्मशक्ति संपत्र व्यक्ति ही कुशलतापूर्वक संपन्न कर सकते हैं । स्मरण रखा जाना चाहिए कि व्यक्ति वही कुछ नहीं जो बाहर से स्थूल रूप में दिखाई देता है बल्कि उसकी मूल सत्ता तो उसकी चेतना है जहां आस्थाओं की जड़ें विद्यमान रहती हैं । निष्ठाओं के बीच जड़ें, पोषण और अंकुरण को प्राप्त करती हैं । आस्थाओं का शोधन और निष्ठाओं का परिष्कार

किए बिना सुधार के सभी प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं । आस्थाओं का परिष्कार ही नवनिर्माण का मूल आधार है और यह कार्य आत्मशक्ति संपन्न व्यक्तियों द्वारा ही किया जाना संभव है ।

व्यक्ति निर्माण की आधारशिला

इन्हीं भावनाओं के अंतर्गत पूज्य गुरुदेव ने हम सभी को नारा दिया कि “युग निर्माण कैसे होगा, व्यक्ति के निर्माण से” । वर्तमान भीषण, भयानक वातावरण को देखते हुए जहां कि संसार की सारी विभूतियां संसार का विनाश करने में लगी हैं, वहां चंद मनुष्यों द्वारा युग निर्माण कैसे संभव है ? अधिकांश मानवों के दिलों में युग निर्माण योजना के कार्यक्रम उपहासप्रद लगते हैं और युग निर्माण होने के प्रति शंका है । प्रचीन युग में भगवान राम के समय में भी विभीषण को ऐसी ही शंका हुई थी कि मैंने किनसे मित्रता कर ली है, जिनके पास पैरों में जूते तक नहीं हैं, न रथ है, भौतिक साधन, सेना आदि भी नहीं है । जबकि मेरे भाई के पास स्वयं की तपश्चर्या, राजनीति की प्रकांड विद्वत्ता, सोने की लंका, अपार धनबल, कुटुंबबल, शारीरिक बल, जन बल, सभी भौतिक यंत्र, रथ आदि सब कुछ है । राम मेरे भाई को किस प्रकार परास्त कर सकेंगे । इसके बारे में संत गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के लंकाकांड के दोहा ७९ के आगे लिखा है—

रावनु रथी विरथ रघुबीरा । देखि विभीषण भयउ अधीरा ॥
अधिक प्रीति मन भा संदेह । बंदि घरन कह सहित सनेहा ॥
नाथ न रथ, नहि तन पद त्राना । केहि विधि जितब बीर बलवाना ॥

तब भगवान ने कहा कि—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना । जेहि जय होइ सो स्यंदन आना ॥
सौरज, धीरज तेहि रथ चाका । सत्य, सील, दृढ़ ध्वजा पताका ॥
बल, विवेक, दम, परहित घोरे । क्षमा, कृपा, समता रजु जोरे ॥

ईस भजनु, सारथी सुजाना । विरति चर्म, संतोष कृपाना ॥
दान, परसु, बुधि सक्ति प्रवचन्दा । वर विज्ञान कठिन को दंडा ॥
अमल, अथल मन, श्रोन समाना । सम, जम, नियम, सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद, विप्र गुरु पूजा । ऐहि सम विजय उपाय न दूजा ॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके । जीतन कहैं न यत्तहु रिपु ताके ॥

मह अजय संसार रिपु, जीति सकड़ सो बीर ।

जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मति धीर ॥

सुनि प्रभु बधन विभीषण, हरणि गहे पद कंज ।

ऐहि मिस मोहि उपदेसेहु, राम कृपा सुख पुंज ॥

विभीषण की शंका का समाधान करते हुए श्री रामचंद्र जी ने २४ गुणों का वर्णन किया और समझाया कि जहां ये २४ गुण होंगे वहां विजय सुनिश्चित है । इन गुणों से संपन्न वीर संसार के सभी शत्रुओं को परास्त कर सकता है और कैसी भी आपदाएं, प्रतिकूलताएं उसके मार्ग में आएं उन पर सरलतापूर्वक विजय प्राप्त कर सकता है । २४ गुणों से सुसज्जित विजयरथ पर आरूढ़ व्यक्ति को कोई भी हरा नहीं सकता ।

हमारी आत्मा भी इस शरीर रूपी रथ पर सवार होकर ही संसार में विवरण करती है । यह शरीर रथ भी यदि इन २४ गुणों से परिपूर्ण हो तो सर्वश्रेष्ठ आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण हो सकता है । यही व्यक्ति निर्माण का मापदंड है और यही युग निर्माण का आधार । भगवान् श्री कृष्ण ने भी गीता में इसी प्रकार की दैवी संपदाओं के अवलंबन पर विशेष बल दिया है ।

ये २४ गुण हैं—(१) शौर्य (२) धैर्य (३) सत्य (४) शील
सदाचार (५) बल (६) विवेक (७) दम (इंद्रियों का वश में होना) (८) परोपकार (९) क्षमा (१०) दया (११) समता
(१२) ईश्वर भजन (१३) वैराग्य (१४) संतोष (१५) दान

(१६) बुद्धि (१७) श्रेष्ठ विज्ञान (१८) निर्मल (पाप रहित)
(१९) अचल (स्थिर मन) (२०) शम (मन वश में होना
(२१) अहिंसा (२२) यम (शौचादि नियम) (२३) ग्राहण गुरु
का पूजन (२४) धर्मभय रथ ।

युग निर्माण की संभवना को साकार करने के लिए परमपूज्य गुरुदेव ने भी व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण और समाज निर्माण के तीन आधार बताए थे । उनमें से व्यक्ति निर्माण को सबसे अधिक महत्व दिया था । उन्होंने स्पष्ट कहा था कि आदर्श व्यक्ति ही परिवार और समाज को उत्कृष्ट बनाकर उज्ज्वल भविष्य का मार्ग प्रशस्त कर सकता है । उन्होंने इसी दृष्टि से विपुल साहित्य की रचना की थी । इन २४ सूत्रों पर गुरुदेव के कुछ चुने हुए विचार यहां संकलित किए गए हैं, जिनका स्वाध्याय करके अपने आचरण में उतारने का प्रयास हम सभी को करना चाहिए ।

१. शौर्य

● यह दुनियां कायरों और डरपोकों के लिए नहीं, साहसी शूरवीरों के लिए बनी है । हमें साहसी और निर्भीक होकर ही जीना चाहिए । प्रतिकूलताओं से लड़ने का साहस रखना और जब वे सामने आ जावें तो हिम्मत वाले पहलवान के समान उनको परास्त करने के लिए जुट जाना यही बहादुरी का काम है । बहादुर को देखकर आधी विपत्ति अपने आप आग जाती है । हम हिम्मत बांधें तो ईश्वर की मदद जरूर मिलेगी । परमात्मा सदा से प्रयत्नशीलों की, साहसी, विवेकवान और बहादुरों की सहायता करता है । फिर हमारी ही क्यों न करेगा ?

● थोड़े से व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो कठिनाइयों तथा संघर्षों को स्वयं आमंत्रित करते हैं । सुविधाओं तथा ढर्ए का जीवन उन्हें नहीं रुचता । कठिनाइयों, संकटों से जूझे बिना उन्हें ऐन नहीं पड़ता । वे

जानते हैं कि उनका सामना किए बिना आंतरिक जीवट को उभारने और सुदृढ़ बनाने का अवसर नहीं मिल सकता । ऐसे व्यक्ति शूरवीर, साहसी, मनस्वी बनते हैं । स्वयं धन्य होते हैं और दूसरों को प्रेरणा, प्रकाश देते हैं । साहस की घनी प्रतिभाएं जिधर भी चल पड़ती हैं अपने एकाकी बलबूते पर चमत्कारी स्तर की सफलताएं अर्जित कर लेती हैं । उनके प्रथंड पुरुषार्थ के समक्ष प्रतिकूलताओं को भी नतमस्तक होना पड़ता है । मानवी साहस एवं पुरुषार्थ के लिए कुछ भी असंभव नहीं है ।

● कितना ही प्रयत्न करने पर भी, कितनी भी सावधानी बरतने पर भी ऐसा संभव नहीं कि मनुष्य के जीवन में अप्रिय परिस्थितियां प्रस्तुत न हों । यहां सीधा और सरल जीवन किसी का भी नहीं है । अपनी तरफ से मनुष्य शांत, संतोषी और संयमी रहे, किसी से कुछ न कहे, कुछ न चाहे तो भी दूसरे लोग उसे शांतिपूर्वक समय काट ही लेने देंगे इसका कोई निश्चय नहीं । कई बार तो सीधे और सरल व्यक्तियों से अधिक लाभ उठाने के लिए दुष्ट दुर्जनों की लालसा और भी तीव्र हो उठती है । कठिन प्रतिरोध की संभावना न देखकर सरल व्यक्तियों को सताने में दुर्जन कुछ न कुछ लाभ ही सोचते हैं । हिम्मत और बहादुरी के साथ ही ऐसी परिस्थितियों का सफलतापूर्वक सामना किया जा सकता है ।

● साधारण कठिनाइयों से पार होने में ही काफी धैर्य, सूझबूझ और दूरदर्शिता की आवश्यकता पड़ती है, फिर कुछ अधिक परेशानी की बात हो तब तो और भी अधिक सही मानसिक संतुलन अभीष्ट होता है । यह न रहे तो विपत्तिग्रस्त मनुष्य किंकर्तव्य विमूढ़ होकर प्रायः वह करने लगता है जो न करना चाहिए था । फलस्वरूप विपत्ति की नई शाखाएं फूट पड़ती हैं और कठिनाइयों का नया दौर प्रारंभ हो जाता है । जब कभी ठंडे भृत्य से विचार करने का

अवसर आता है तब मनुष्य पछताता है और सोचता है कि आगत विपत्ति नहीं टल सकती थी तो कोई बात न थी, अपने मानसिक संतुलन को तो शौर्य एवं साहस द्वारा बचाया ही जा सकता था और जो परेशानियां अपनी भूलों के कारण सिर पर ओढ़ ली गई उनसे तो बचा ही जा सकता था ।

२. धैर्य

● स्वर्ग और सुख की प्राप्ति के लिए भी धैर्य की आवश्यकता है । अध्यात्म पथ के पथिकों को भी धैर्यपूर्वक साधना करनी पड़ती है । पूर्ण सिद्धि के लिए ध्रुव जैसा धैर्य चाहिए । एक एक सीढ़ी चढ़नी चाहिए । इस दुनियां में कोई भी महान और स्थायी कार्य करने से पूर्व आपको एक बात मन में खूब बैठा लेनी चाहिए । आपको यह प्रण या संकल्प कर लेना चाहिए । “हम इसे अंत तक, सफलता मिल जाने तक, एक तन, एक मन, पूरी दृढ़ता से पालन करेंगे । ईश्वर की शक्ति हमारे साथ है । परिस्थितियां हमारे पक्ष में हैं । सब उच्चतम शक्तियां हमारे मस्तिष्क में भरी पड़ी हैं ।” सफलता की प्राप्ति दरअसल एक लंबी साधना है जो अनवरत अटूट लगन, धैर्य और विश्वास से ही मिल सकती है । संसार के बड़े बड़े आविष्कार, कला कौशल में उन्नति, ज्ञान विज्ञान में अद्भुत प्रगति साहित्य की मूल्यवान कृतियों का निर्माण दो दिन में नहीं हो गया था । उन्होंने असफलताओं में भी अपने धैर्य को बराबर बनाए रखा था । स्मरण रखिए, इस समाज जैसे सम्मान उन्हें मिलता है जो दैवेच्छा और गुरुजनों की शिक्षा मानकर कठिनाइयों में भी आगे बढ़ते रहते हैं । उन्हीं धैर्यवानों की सर्वत्र प्रशंसा होती है । कहा भी है कि-

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय ।

माली सीधे सौ घड़ा, झटुआए फल होय ॥

● इस दुनिया में उन्नतिशील आदमियों की परीक्षा ली जाती है ।

विपरीत परिस्थितियां आती हैं । धैर्यपूर्वक उन्हें पार करना होता है, तब कहीं उत्तीर्ण होने का सौभाग्य प्राप्त होता है ।

किसान साल भर खेतों में जोतने, बोने, पानी देने, मवेशियों से बचाने और टिड़ियों, चिड़ियों आदि से रक्षा में जुटे रहते हैं । तब कहीं अन्न पैदा होता है । संसार में हर तरह की उपलब्धि, सफलता, कुशलता, उन्नति आदि के लिए धैर्यपूर्वक साधना करने का एक निश्चित विधान है । इस विधान से देव, दनुज, मनुज आदि सभी बंधे हैं । लक्ष्य सिद्धि के लिए धैर्य आवश्यक ही नहीं, सर्वाधिक जरूरी है, आधारभूत आवश्यकता है । दीर्घकालीन साधना वाले नियम का उल्लंघन नहीं किया जा सकता । सफलता तक पहुंचने की बहुत सी सीढ़ियां हैं । एक एक सीढ़ी चढ़ने से सैकड़ों सीढ़ियों को चढ़ा जा सकता है । सफलता की अंतिम मंजिल तक पहुंचने की प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है । इसके लिए आखिरी दिन तक का धैर्य चाहिए, ध्रुव जैसी साधना का धैर्य चाहिए । साधना पथ से विचलित हो जाने वाले इन परीक्षाओं को पार नहीं कर पाते, बीच में ही फेल हो जाते हैं । जो कठिनाइयों, संघर्षों, आपदाओं, मुसीबतों, विपरीत परिस्थितियों से भी नहीं घबड़ाते, अंततः साधना की सफलता का सौभाग्य उन्हीं को मिलता है । इस सीढ़ी को वही पार करते हैं जो “प्रभो ! पग पग पर मेरी परीक्षा ले” की भावना रखते हैं । दृढ़ता के साथ साधना पथ पर आरूढ़ रहने वाले ही सफलता की सिद्धि प्राप्त करते हैं ।

३. सत्य

● संसार भर के श्रेष्ठ आत्मज्ञानियों और तत्त्वदर्शियों ने अपने व्यक्तिगत जीवन के निष्कर्षों एवं अनुभवों का निष्पोड़ यही बताया है कि सत्य पर आरूढ़ रहा जाए । मानव जीवन एक बहुत बड़ा सत्य है । उसकी आधार शिला सत्य पर ही रखी गई है । उसका लक्ष्य

सत्य है । इसलिए उसकी जीवन नीति भी सत्य पर ही आधारित होनी चाहिए । हमारा मन, वचन और कर्म एक होना चाहिए । जो मन में हो, वही वाणी से कहे, वही करे भी । हमें सत्य बोलना चाहिए । सत्य के अनुकूल ही सोचना चाहिए । सत्य से शोधित कर्म ही करना चाहिए । सत्य परायण होकर ही हम सत्य स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कर सकेंगे । महापुरुषों ने अपने निज के अनुभवों में सत्य को ही सार पाया है और उसी का आचरण करने का हमें निर्देश दिया है । सत्य ही सब तरह से हमारे लिए उपासनीय है । सत्य के मार्ग पर आरंभ में कुछ कठिनाइयां आ सकती हैं किंतु यह जीवन को उत्कृष्ट और महान बनाने का राजमार्ग है । व्यावहारिक जीवन में यह सभी चाहते हैं कि लोग हमारे साथ सत्य बोलें, सदाचरण करें और सहानुभूति प्रकट करें । आत्मा अपनी ब्रेष्टता सत्य के द्वारा ही तो व्यक्त करता है । सत्य आत्मा का नैसर्गिक गुण है । इस विशेषता के कारण ही मनुष्य अपने सभी पवर्ती लोगों से सदैव सत्य व्यवहार की ही अपेक्षा किया करते हैं ।

● व्यवहार में सत्यता हो, पर यह भी ध्यान रखें कि उस सत्य में अप्रियता न हो । जहां दूसरों के प्रति सत्य की अभिव्यक्ति में साहस और दृढ़ता हो वहां अपने सत्य को प्रस्तुत करते समय भी वित्त डांवाड़ोल न हो । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बरती गई ईमानदारी ही सार्वभौमिक सत्य है । केवल ऐसा सत्य ही हमें विश्व में यथार्थ की अनुभूति करा सकता है ।

● सत्यवादी व्यक्ति भीतर और बाहर एक समान होता है । इसलिए उसकी शांति की थाह पा सकना किसी के लिए भी संभव नहीं होता । जब तक इस सत्य का एक भी कण जिंदा है यह पृथ्वी तभी तक स्थिर है । मनुष्य जाति ने यदि सत्य का पल्ला छोड़ दिया तो वह अपने आप ही सत्यानाश की विभीषिका में जलकर अपना

अंत कर लेगा । हमें दंभ और कपट का नहीं बल्कि ईमानदारी और सत्य का आचरण करना चाहिए । यदि कोई सत्य का आश्रय ले लेता है तो कमल के समान वह अपनी आत्मा के मूल बिंदु पर स्थिर होकर विश्व के यथार्थ को देख लेता है । भली प्रकार समझा हुआ यह सत्य ही स्वर्ग और बंधन मुक्ति का आधार बनता है ।

४. शील (सदाचार)

● सदाचरण कर्तव्य पालन के कार्य धर्म या पुण्य कहलाते हैं । उनके करते ही तत्क्षण करने वाले को प्रसन्नता एवं शांति का अनुभव होता है । इसके विपरीत यदि स्वेच्छाचार बरता गया है, धर्म मर्यादाओं को तोड़ा गया है, स्वार्थ के लिए अनीति का आचरण किया गया है तो अंतरात्मा में लज्जा, संकोच, पश्चात्ताप, भय और ग्लानि का भाव उत्पन्न होगा । भीतर अशांति रहेगी और लगेगा मानो अपनी अंतरात्मा ही अपने को धिक्कार रहा है । नीति, सदाचार और धर्म का पालन करते हुए सीमित लाभ में संतोष करना पड़ सकता है, गरीबी और सादगी का जीवन बिताना पड़ सकता है, पर उसमें चैन अधिक है । बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम धर्म का, कर्तव्यपालन का महत्व समझें । सदाचार की मर्यादाओं का उल्लंघन न करें । स्वयं शांतिपूर्वक जिएं और दूसरों को सुखपूर्वक जीने दें । शील एवं शिष्टा मनुष्य के मानसिक विकास के परिचायक हैं । जिस अनुपात से मनुष्य का मानसिक विकास होता जाता है, उसी अनुपात से वह पशुता से उठकर मनुष्यता की ओर बढ़ता जाता है । इस प्रकार एक दिन वह शनैः शनैः बढ़ता हुआ अपने आत्मस्वरूप तक पहुंचकर निरंतर सुख शांति का अधिकारी बन जाता है । आत्मिक उन्नति के साथ साथ शील एवं शिष्टा भौतिक उन्नति का ही आधार है । मानव जीवन की सार्थकता के लिए आचार की पवित्रता अनिवार्य है । आचार विचार की पवित्रता से व्यक्ति का सम्मान व

प्रतिष्ठा होती है। सदाचारण और मर्यादापालन के सत्यथ पर चलने वाला समाज ही सुसंस्कृत, प्रगतिशील, सुखी, संतुष्ट सदस्यों का निर्माण एवं संरक्षण करने में समर्थ होता है।

● जो शिष्ट और सम्भ्य होते हैं वह सहिष्णु भी होते हैं। शिष्ट दूसरे से तो दुखदायी व्यवहार नहीं करता है, यदि उसके साथ भी दुखदायी व्यवहार किया जाता है तब भी वह अधिक दुखी नहीं होता। न तो उस पर कोई अप्रिय प्रतिक्रिया होती है और न उसे क्रोध ही आता है। विपरीत व्यवहार में भी उसकी मनःशांति अक्षुण्ण बनी रहती है। बदले में बुरा व्यवहार न करके वह अपने विरोधी को भी लज्जित कर देता है। शिष्ट और सम्भ्य के सम्मुख संघर्ष की परिस्थितियां बहुत कम आती हैं और यदि आती भी हैं तो वे उलझ कर अधिक भयानक नहीं बनने पातीं। वह बिना किसी हानि के उन्हें सुलझा लिया करता है। इस प्रकार कोई भी शिष्ट और सम्भ्य व्यक्ति सदा ही संघर्षहीन, निर्द्वंद्व एवं सौहार्दपूर्ण सुख का जीवन व्यतीत किया करता है। मनुष्य को चाहिए कि वह स्थायी सुख शांति के लिए विकारों को दबाकर शिष्ट और सम्भ्य व्यवहार के अभ्यास से विकारों पर विजय प्राप्त करे।

५. बल

● जीवन का दूसरा नाम शक्ति ही है। बिना शक्ति के एक तो जीवन होना ही कठिन है। फिर यदि जीवन रहे भी तो निःशक्त जीवन मृत्यु से भी अधिक बुरा है। जो सुखी रहना चाहता है, प्रसन्न रहना चाहता है, संतुष्टि चाहता है, उसे सशक्त बनना ही चाहिए। शक्ति का रहस्य कर्म में छिपा हुआ है। जो क्रियाशील है वही शक्तिशाली है। अपने प्रभाव से मनुष्य चेतना विहीन प्राणियों को भी नवजीवन देने की शक्ति रखता है। उसने देश, समाज और राष्ट्र तक बदल डाले हैं। मनुष्य सामाजिक जीवन का निर्माता है। उससे

राष्ट्र को बल मिलता है । मानवीय शक्ति की एक चिनगारी से युग परिवर्तित हुए हैं, हो रहे हैं और यह कम आगे भी युग युगांतरों तक चलता रहेगा । लगता है इन्हीं विशेषताओं के कारण संसार के दूसरे प्राणी शारीरिक शक्तियों में प्रबल होते हुए भी उसे शीश झुकाते हैं । वीरता हमारी शक्ति है जिससे हम संगठित रहे हैं और हमारे धर्म तथा संस्कृति की रक्षा हुई है ।

● जीवन और उपयोगिता बनाए रखने के लिए हमें शक्ति का संचय करना और बढ़ाना आवश्यक है । जो जितना शक्तिशाली है । वह उतना ही लाभान्वित रहेगा । जो कुछ हम चाहते हैं उस आकांक्षा की पूर्ति की समस्या सामने आते ही सबसे पहला प्रश्न उठता है कि क्या उसके लिए आवश्यक शक्ति हमारे पास है । यदि अशक्तता छाई हुई हो तो उन्नति की बात तो दूर सुरक्षा भी संदिग्ध हो जाती है ।

● अशक्त व्यक्तियों से उनकी कमाई या उचित अधिकार को भी चोर, लुच्चे हथिया लेते हैं । लोमड़ी, खरगोश, मुर्गा, कबूतर, मछली जैसे स्वल्प सामर्थ्य वाले जीव दूसरे शक्तिशाली जीवों द्वारा आए दिन संत्रस्त किए जाते हैं । प्रचंड अग्नि के लिए तेज चलती हुई हवा सहायक होती है, उसकी प्रचंडता को बढ़ाती है । वही हवा बेचारे कमजोर दीपक की लौ बुझा देने की हरकत करने में नहीं चूकती । इस संसार का ऐसा ही विचित्र विधान बना हुआ है । परमात्मा भी उनकी ही सहायता करता है जो अपनी सहायता अपने आप करते हैं ।

● प्रकृति इस संसार में सब कुछ स्वस्थ, सुंदर, समर्थ और समुन्नत देखना चाहती है । उसमें जहां भी कमी आती है वहीं वह असुंदर चीज को मिटाकर नई सुंदर चीज फिर बनाने का प्रयत्न प्रारंभ कर देती है । कुम्हार कई तरह के बर्तन और खिलौने बनाता है, उसमें जो कुरुल्प और दोषयुक्त बन जाते हैं उन्हें तोड़कर उसी

मिट्टी से दूसरी अच्छी चीज बनाता है। प्रकृति भी यही करती है। अशक्तता अपनाकर जिन्होंने अपना जीवन कुरुरूप बना डाला उनके नष्ट होने में ही उसे भलाई दिखाई देती है। “दैव को दुर्बलता का घातक” बताकर शास्त्रकारों ने एक कटु सत्य का ही उद्घाटन किया है।

● शक्ति की उत्पत्ति अवरोध से होती है। नदी के प्रवाह को जहां रोका जाएगा वहीं शक्ति का उद्भव होने लगता है। गंगोत्री और उत्तरकाशी के बीच गंगा की मध्य धारा में बड़ी बड़ी चट्टानें होने से पानी भयानक रूप से उफनता और भारी शब्द करता हुआ तीस तीस फीट ऊंचा उछलता है। उस दृश्य को देखने मात्र से डर लगने लगता है। यदि चट्टानें हटा दी जाएं तो जल साधारण गति से बहने लगेगा। मन के अस्तव्यस्त प्रवाह को एकाग्रतापूर्वक रोक कर एक दिशा में लगाने वाले साधक उसकी महान् शक्ति से महत्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध करते हैं।

६. विवेक

● विवेक को कल्याणकारक समझकर हर बात पर स्वतंत्र रूप से विचार करें। अंधानुकरण कभी किसी दशा में न करें। हमको परमात्मा ने जो विवेक बुद्धि प्रदान की है उसका यही उद्देश्य है कि किसी भी पुस्तक, व्यक्ति या परंपरा की हम परीक्षा कर सकें। जो बात बुद्धि, विवेक, व्यवहार एवं औचित्य में खरी उतरे उसे ही ग्रहण करना चाहिए। बुद्धि के न्यायशील, निष्पक्ष, सतोगुणी, सहदय, उदार एवं लोक हितैषी भाग को ही विवेक कहते हैं। इसी विवेक के आधार पर किया हुआ निर्णय कल्याणकारी होता है। विवेक हमें हंस की तरह नीर क्षीर को अलग करने की शिक्षा देता है। विवेचक बुद्धि की कसौटी पर रखकर यदि हम किसी कार्य को करेंगे तो उसमें धोखा नहीं उठाना पड़ेगा। विवेक बल आत्मा से संबंधित है।

आध्यात्मिक आवश्यकता, इच्छा और प्रेरणा के अनुसार विवेक जागृत होता है। उचित अनुचित का भेदभाव यह विवेक ही करता है। विवेक आत्मा की पुकार है। आत्मिक स्वार्थ का वह पोषक है। अंतःकरण में से सत्य, प्रेम, न्याय, त्याग, उदारता, सेवा एवं परमार्थ की जो भावनाएं उठती हैं उनका यह पोषण करता है। बल के ऊपर विवेक का नियंत्रण कायम रखना अत्यंत आवश्यक है। बिना इसके संसार में सुख शांति कायम नहीं रह सकती। मनुष्य के लिए अपने विवेक की सदैव रक्षा करना परमावश्यक है। किसी स्वार्थ के लिए भी विवेक की हत्या करने से उसका कुफल भोगना पड़ता है। चाहे वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक समस्या हो अथवा धार्मिक हमको विवेकयुक्त निर्णय का सदैव ध्यान रखना चाहिए।

● आधुनिक संसार में स्वतंत्र चिंतन का बड़ा महत्व है। प्रायः लोग भारतीयों पर अंधविश्वास का दोष लगाया करते हैं। यह त्रुटि इस देश में पिछले कुछ वर्षों में बढ़ी है अन्यथा वैदिक साहित्य स्पष्ट रूप से स्वतंत्र चिंतन का समर्थन करता है क्योंकि बिना स्वतंत्र चिंतन के विवेक जागृत नहीं होता और इसके बिना अनेक भागों में से अपने अनुकूल श्रेष्ठ मार्ग का बोध हो सकना संभव नहीं है। दूसरों का अनुगमन करते रहने में सुविधा अवश्य जान पड़ती है पर उससे सच्ची उन्नति का मार्ग अवरुद्ध होता है।

● धर्माधर्म का निर्णय करने के लिए शास्त्रों के प्रमाण के साथ ही अपनी विवेक बुद्धि से भी काम लेना अनिवार्य है और जहां शास्त्र की बातें विवेक बुद्धि से स्पष्ट असंगत जान पड़ें वहां उन्हें अस्वीकार कर देना चाहिए। मनुष्य यदि आत्मा को निर्मल बनाकर उसकी शक्ति अर्थात् विवेक द्वारा विचार करे तो कोई कारण नहीं कि वह सत्य धर्म का निर्णय न कर सके।

७. दम (इंद्रियों का वश में होना)

● अपनी इंद्रियों को वश में करना चाहिए । असंयत इंद्रियां स्वामी का नाश कर देती हैं । इंद्रियां आत्मा के औजार हैं, सेवक हैं । परमात्मा ने इन्हें इसलिए प्रदान किया है कि इनकी सहायता से आत्मा की आवश्यकताएं पूरी हों और सुख मिले । सभी इंद्रियां बड़ी उपयोगी हैं । सभी का कार्य जीव को उत्कर्ष और आनंद प्राप्त कराना है । यदि उनका सदुपयोग किया जाए तो मनुष्य निरंतर जीवन का मधुर रस चखता हुआ अपने जन्म को सफल बना सकता है । यह परमावश्यक है कि इंद्रियां हमारे काबू में रहें । वे मनमानी करके हमें चाहे जब चाहे जिधर न घसीट सकें, बल्कि जब हम स्वयं आवश्यकता अनुभव करें, जब हमारा विवेक निर्णय करे, तब उचित आंतरिक भूख को बुझाने के लिए उनका उपयोग करें । यही इंद्रिय निग्रह है । निग्रहीत इंद्रियों से बढ़कर मनुष्य का सच्चा मित्र तथा अनियंत्रित इंद्रियों से बढ़कर शत्रु और कोई नहीं है । आत्म नियंत्रण ही स्वर्ग का द्वार है । यह प्रकाश तथा शांति की ओर ले जाता है । आत्मसंयम पुण्य की प्रथम सीढ़ी है । इससे सदगुणों की प्राप्ति होती है । सुव्यवस्थित तथा सच्चे धार्मिक जीवन की यह प्रथम आवश्यकता है । आत्मसंयम आरंभ करके कोई व्यक्ति जो अपना उपकार कर सकता है उससे अधिक हित करने वाली संसार की कोई शक्ति नहीं है । हमारी इंद्रियां अगर बुरे मार्ग पर जाती हैं तो उसकी जिम्मेदारी किसी दूसरे पर नहीं, वरन् स्वयं हमारे मन पर ही है । अगर हमारा मन सुमार्गगमी रहकर इंद्रियों को संयम में रखे तो समस्त सांसारिक कार्यों को करते हुए भी हम सद्गति के अधिकारी बन सकते हैं ।

● विवेक, विचार, भक्ति और ध्यान से काम पर; विचार, शांति, ध्यान और क्षमा के द्वारा क्रोध पर; संतोष, अभेद, विराग और दान के द्वारा लोभ पर; संसार की असारता के विचार से मोह पर संयम

कर सकना संभव है । इंदिय संयम में मुख्य दो इंदियों पर संयम अति आवश्यक है । स्वार्देशिय एवं कामेशिय । अस्वाद व्रत स्वार्देशिय का संयम है । अस्वाद व्रत का अर्थ है स्वाद का गुलाम न होना । शरीर के पोषण, स्वास्थ्य तथा रक्षा के लिए जिन जिन पदार्थों की आवश्यकता हो उनका सेवन करना चाहिए लेकिन केवल जीभ के छोंचले पूरा करने के लिए किसी वस्तु का सेवन न करें अर्थात् जिह्वा के गुलाम न बनें । ब्रह्मचर्य की शक्ति अमोघ मानी गई है । संसार में महान और उपयोगी कार्य करने वाले ब्रह्मचर्य के अनुयायी रहे हैं । ब्रह्मचर्य का अर्थ काम वृत्ति का सर्वथा परित्याग नहीं है । शास्त्रकारों ने उस गृहस्थ को भी ब्रह्मचारी बतलाया है जो केवल अपनी स्त्री तक सीमित रहकर नियमानुकूल आचरण करता है ।

८. परोपकार

● उसी का जीवन सफल है जो परोपकार में प्रवृत्त रहता है । परमार्थ, अपने आप में जीवन की बहुत बड़ी साधना है जो मनुष्य को क्रमशः उसके लक्ष्य तक पहुंचा देती है । परमार्थ साधना से मनुष्य की चेतना असाधारण रूप से विकसित हो जाती है और वह महान बन जाता है जिससे जीवन में अपार और अनंत आनंद का लाभ प्राप्त होता है । जो परमार्थ में लीन है उनके लिए संसार में कुछ भी तो दुर्लभ नहीं है । परमार्थ के समान संसार में कोई धर्म नहीं है । जो परमार्थ में लीन है, मनसा, वाचा, कर्मणा जिनका जीवन परोपकार में लगा हुआ है वे ही सज्जन, संत और महात्मा हैं । परमार्थ मानव जाति की सुरक्षा, विकास और शांति का साधन है । वही समाज सुख, शांति और विकास के पथ पर आगे बढ़ सकता है जिसके सदस्यों में परस्पर सेवा, सहयोग का व्यवहार हो । मनुष्य व्यक्तिगत रूप से जितना समाज को देता है सामूहिक रूप से उससे कई गुना वह समाज से प्राप्त कर लेता है । मानव जीवन की सार्थकता अपने

आपको घुलाकर, अपने अस्तित्व को मिटाकर परहित के लिए आत्म बलिदान की भावना में है । परोपकार मनुष्य का आध्यात्मिक सद्गुण है । इसी भावना पर संसार का सृजन, व्यवस्था और उत्थान सन्त्रिहित है । परोपकार वह है जो निस्वार्थ भाव से किया जाए और उसमें कर्तव्य भावना की विशालता अंतर्हित हो । स्वार्थ की भावना और भविष्य में अपने लिए अनुकूल साधन प्राप्ति की दृष्टि से जो सेवा की जाती है, वह परोपकार नहीं प्रवचना है ।

● यह संसार परोपकार पर ही टिका है । मनुष्य प्रकृति के माध्यम से परमात्मा की ओर से न जाने क्या क्या पता रहता है ? अतः मनुष्य का यह परम कर्तव्य है कि वह प्रकृति सा परमात्मा के प्रति इसका आभार प्रकट करे । कृतज्ञता सबसे बड़ा पाप है । कृतज्ञता प्रकट करने का एक सुंदर सा उपाय यही है कि उसके उपकार का प्रत्युपकार हम उसकी सृष्टि को दें अर्थात् संसार के प्राणियों के साथ उपकारी कार्यों का व्यवहार करें । परोपकार से हमारा हृदय भरता जाता है । इससे मनुष्य की चेतना न केवल विकसित ही होती है, बल्कि ऊर्ध्वमुखी भी होती है । उसका हृदय विकसित, विशाल और महान हो जाता है । परोपकार से शांति और संतोष प्राप्त होता है तथा आत्मा को असीम तृप्ति का अनुभव होता है । परमार्थ से बढ़कर कोई स्वार्थ नहीं है । परोपकार से समाज के साथ साथ स्वयं की भी सुरक्षा, विकास और सुख शांति का मार्ग प्रशस्त होता है । समाज को जीवित रखने के लिए परस्पर सेवा, सहयोग, सहायता, दया, सहानुभूति की प्रवृत्तियां चलती ही रहनी चाहिए । परोपकार एक आध्यात्मिक भावना है जिसे कभी भी किसी भी परिस्थिति में यथा साध्य सत्कर्म द्वारा मूर्तिमान किया जा सकता है । प्रत्येक मनुष्य के पास इस प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर होना ही चाहिए कि विश्वमानव की सेवा में उसका उदार अनुदान क्या रहा ? कितना रहा ?

१०. क्षमा

● दैवी संपदाएं ही मनुष्य की वास्तविक संपत्ति हैं । वही मानवता का संचार करने वाली हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के १६वें अध्याय में दैवी संपदाओं पर प्रचुर प्रकाश डाला है तथा दैवी संपदा वाले लक्षणों का स्पष्ट विवेचन किया है । इनमें से एक क्षमा है । पूर्ण शक्ति संपत्ति होने और बदला लेने के साधन होते हुए भी दोषी को माफ कर देने का नाम क्षमा है । सशक्त क्षमावान् द्वारा प्रदान की गई क्षमा का चिरस्थायी प्रभाव पड़ता है । प्रायः देखा गया है कि सजा का प्रभाव इतना नहीं पड़ता जितना प्रसन्नतापूर्वक क्षमा करने का पड़ता है ।

● गलती हो जाना मानव की दुर्बलता है किंतु इस गलती को माफ कर देना देवत्व का सूचक है । क्रोध करने से उत्पात का नाश नहीं होता वरन् वह उत्तरोत्तर बढ़ता है । क्रोध से झगड़ा शांत करना अग्नि में घृत की आहुति डालना है । गंभीर एवं चिंतनशील पुरुष धर्यपूर्वक क्षमा करते हैं । व्यवहार कुशल व्यक्ति प्रेम तथा सहानुभूति द्वारा अधिक कार्य निकालता है । क्षमा में दोनों ही ओर का लाभ है । आवेश में संभव है आप कुछ ऐसा कार्य कर जाएं जिसके लिए सदा दुख उठाना पड़े और एक व्यक्ति सदा के लिए आपका शत्रु बन जाए । यदि प्रतिशोध न लेकर प्रेम तथा सहानुभूति से क्षमा कर दिया जाए तो उसका चिरस्थायी प्रभाव दूसरे के हृदय पर पड़ता है और मनुष्य सदा के लिए अपना हो जाता है ।

१०. दया

● दया एक दैवी गुण है । जिस पर सभी धर्मों की रूपरेखा स्थिर है । दया के बिना कोई धर्म, धर्म नहीं रहता । दया ही अपने आप में सबसे बड़ा धर्म है जिसका आचरण करने से मनुष्य का आत्म विकास होता है । दया परमात्मा का निजी गुण है । दयालु हृदय में

परमात्मा का प्रकाश ही प्रस्फुटित हो उठता है । क्योंकि भगवान् स्वयं दया स्वरूप हैं । दयालु छद्य में ही उनका निवास होता है । दया के आचरण से मनुष्य में अन्य दैवी गुण स्वतः ही पैदा होने लगते हैं । सर्व प्राणियों के प्रति करुणा भाव रखना ईश्वर तक पहुंचने का सबसे सरल मार्ग है । दया की शक्ति अपार है । दया से स्थायी और अलौकिक विजय मिलती है । दया से दूसरों का विश्वास जीता जाता है । दया समाज में परस्पर की सुरक्षा और सौहार्द की गारंटी है । क्योंकि इसमें दूसरों के भले की भावना निहित है । दया सुधार का एक शक्तिशाली माध्यम है । दया आत्मा का विशिष्ट गुण है । दया का दान सबसे महान दान है । दया का दान पाकर अपने दुख का अभिन्न साथी, सहयोगी, मित्र पाकर मनुष्य में संतोष, प्रसन्नता, उत्साह, उमंग, आशा पैदा होती है । हम परमात्मा से दया की प्रार्थना करते हैं । उसी तरह हमारा कर्तव्य है कि हम भी दूसरों पर दया करें । यदि आप दूसरों पर दया करेंगे तो भगवान् भी आप पर दया करेगा । यदि हम में से प्रत्येक नियमित रूप से दया धर्म का आचरण करे तो मानव समाज के अनेक कष्ट सहज ही समाप्त हो जाएं । सामूहिक प्रगति एवं शालीनता का सर्वत्र विकास होने लगे ।

● किसी भी दुखी, आर्त प्राणी को देखकर उसके दुख एवं अहंता की निवृत्ति के लिए अंतःकरण में जो हेतु रहित दृवता युक्त भाव उत्पन्न होता है उसी का नाम दया है । अपने लाभ की आकांक्षा का उसमें लेशमात्र भी आचरण नहीं होता । दया तो केवल दया के ही लिए होती है ।

● परमात्मा की शरण में जाने से, उसमें दया भरे सांसारिक नियमों पर विचार करने से, प्रार्थना, भजन एवं ध्यान से हममें निःस्पृहता, निष्कामता, धैर्य का उत्तरोत्तर विकास होता है और दया

का विशुद्ध हेतु रहित स्वरूप प्रकट होता है । भगवान की दया सर्वथा हेतु रहित, अपार एवं सम है । दया के तत्व का पूर्ण आनंद एवं कर्म समझने के लिए साधक को गदगद वाणी से प्रभु कीर्तन, मनन, विनयपूर्ण प्रार्थना, दया का मर्म समझने वाले महापुरुषों का सत्संग तथा सत् शास्रों का अवलोकन करना चाहिए ।

● आप हर स्थिति में दया का प्रयोग कर उस दिव्य संपदा के अमृतोपम लाभ को उठा सकते हैं । किंतु इसके लिए सबसे आवश्यक तत्व यह है कि जिस पर आप दया करें, जिसको लाभ पहुंचाएं, जिस पर आपको तरस आए उसकी सेवा निस्वार्थ भाव से कीजिए । यह हमें किसी प्रकार का लाभ पहुंचा देगा या आड़े समय पर काम आएगा, ऐसी कोई भी भावना अंतःकरण में मत रखिए । अपनी प्रसिद्धि, लाभ, नफा, नुकसान, दुनिया को धोखा देने या मानवता का अपमान करने के लिए दया का स्वांग न कीजिए । ऐसी दया धार्मिकता के नाम पर विडंबना है । स्वार्थ के लिए दया न दिखलाइए । दया किसी स्वार्थ विशेष से प्रेरित होने पर अपने देवत्व के गुण को खो देती है ।

११. समता

● मानव जीवन की सफलता के लिए सबसे मुख्य बात यह भी है कि हम अपने भीतर “आत्मबुद्धि” को जागृत करें अर्थात् संसार के अन्य व्यक्तियों और प्राणियों को भी अपने ही समान समझें और उनके साथ सदैव ऐसा व्यवहार करें जो हितकारी हो । गायत्री मंत्र तो आध्यात्मिकता का महान ख्रोत है और उसकी शिक्षाओं पर आचरण करने से मनुष्य में आत्म बुद्धि का विकास होना अवश्यं भावी है । गायत्री की शिक्षा अध्यात्मवाद की व्यावहारिक प्रक्रिया है । श्रेष्ठ नागरिक बनने का मर्म इसमें है कि अन्य लोगों को अपने समान समझा जाए । दूसरे शब्दों में इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि

दूसरो से वैसा व्यवहार करना चाहिए जैसा कि आप अपने लिए चाहते हैं । यदि आनंद और सुख की प्राप्ति के लिए आप लालायित हैं तो आत्मबुद्धि को जागृत करके अपना आत्मभाव दूसरों के साथ जोड़ दें । उनके सुख में अपने को सुखी करने का अभ्यास करें तो जिसके लिए आप लालायित हैं उस वस्तु को आसानी से पा सकते हैं । जो मनुष्य केवल अपने व्यक्तिगत हित का ही ध्यान रखता है और दूसरों की भलाई बुराई के प्रति उपेक्षा का भाव रखता है वह चाहे कैसा भी गुणी या त्यागी, तपस्वी क्यों न हो कभी सम्माननीय पद का अधिकारी नहीं हो सकता । यह तब तक संभव नहीं जब तक हम अन्य प्राणियों के प्रति आत्म बुद्धि का भाव न रखें । सहनशीलता, करुणा, संपूर्ण प्राणियों से मित्रता, सबके साथ समता का व्यवहार करने से भगवान् प्रसन्न होते हैं ।

● अज्ञान और अविद्या के कारण लोग एक दूसरे को एक दूसरे से पृथक् समझते हैं । 'तू' और 'मैं' के पृथक् जानने से ही हम दूसरे को विजातीय मानते हैं, छोटे बड़े का भाव मन में आता है तथा अनेक दुख उत्पन्न होते हैं । अहंभाव का संकोच ही हमारी ईर्ष्या एवं शत्रुता का प्रधान कारण है । अहंभाव का नाश होने से हम में और तुम में कुछ भेद नहीं रहेगा । अविद्या और अज्ञान हमें भेदभाव सिखाता है । अध्यात्म ज्ञान हम में से संकुचितता निकाल कर सबके लिए सम्मान, प्रेम, सहानुभूति आदि देता है ।

● आप प्रत्येक को अपना भाई, सगा संबंधी समझिए । मनुष्य जाति एक लंबा चौड़ा कुटुंब है । हम सब उसके पृथक् पृथक् अंग हैं । हम सब मिलकर एक पूरी समष्टि बनाते हैं । प्रत्येक की उन्नति के लिए प्रयत्न करना, सभी को प्यार करना, उद्योगी एवं उपयोगी बनाना सबका कर्तव्य है । ईश्वर भी कहता है कि हम सभी प्रेम तथा सहानुभूति से रहें । कहीं पर शत्रुता का भाव न हो । पृथ्वी के

प्रत्येक भाग में रहने वाली मनुष्य जाति में परस्पर मेल मिलाप हो । ईश्वर की दया और प्रकृति की मनोरम वस्तुएं सभी के लिए हैं ।

१२. ईश्वर भजन

● यदि इस जीवन में परमात्मा को जान लिया तो यह जन्म सार्थक हुआ और यदि उसे न जान पाए तो यह निश्चय ही बहुत घड़ी हानि है । बुद्धिमान व्यक्ति प्रत्येक प्राणी में उसी का दर्शन करते हुए अजर अमर हो जाते हैं । ईश्वर उपासना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है । मनुष्य रहते हुए मानवता की सीमा को भेदकर उसे देव स्वरूप में विकसित कर देना ईश्वर की शक्ति का कार्य है । उपासना का अर्थ परमात्मा से शक्ति को प्राप्त करना ही है ।

● सबसे उपयुक्त साथी जो निरंतर भित्र, सखा, सेवक, गुरु, सहायक की तरह हर घड़ी प्रस्तुत रहे और बदले में प्रत्युपकार न मांगे केवल एक ईश्वर ही हो सकता है । परमात्मा से विमुख होकर हम पाते कुछ नहीं, खोते बहुत हैं । समय रहते इस भूल को सुधार लिया जाए तो ही अच्छा है । आंतरिक ज्ञान के द्वारा ही हम परमात्मा का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं । उसका साक्षात्कार कर सकते हैं । हम ईश्वर बनकर ही ईश्वर के दर्शन प्राप्त कर सकते हैं । यह केवल पुरुषार्थी को ही उपलब्ध हो सकता है ।

● ईश्वर उपासना का अर्थ है ईश्वर के समीप बैठना । परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त होते ही जीव का आपा विस्तीर्ण होने लगता है, उसकी शक्तियां प्रकीर्ण होने लगती हैं । उपासना करते हुए भी जो विपन्न और दुखी रहते हैं वे सच्चे उपासक नहीं । उपासना स्वार्थ से नहीं, प्रेम से प्रेरित होकर की जानी चाहिए । सच्ची भावना के साथ हुई उपासना चमत्कार की तरह फलवती होती है । उपासना जब जीवन का एक आवश्यक अंग बन जाती है तो उसकी पूर्ति करने में वैसी ही तृप्ति होती है जैसी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति

में । अंदर से असामान्य होने पर भी बाहर से सहज सामान्य रहना ही उपासक के लिए अधिक हितकर है । सत्कर्म ही उसकी सबसे बड़ी पूजा है ।

● परमात्मा नित्य शुद्ध है । वह अपने उपासक में पाप कैसे देख सकता है । दूध में शद्ध जल मिल सकता है । गंदा जल तो उसके स्वरूप को ही बिगाड़ देता है । अग्नि में लोहा डाला जाता है तो वह भी अग्निवत हो जाता है । परमात्मा अपने भक्त के पापों का इसी प्रकार संहार कर उन्हें नष्ट करता है । यही बात उपासक की ओर से भी होती है । वह अनुभव करता है कि पापपूर्ण जीवन बिताकर परमात्मा का पाना संभव नहीं, वैसे ही पुराने पापों का फल पाए बिना भी उसकी सिद्धि संभव नहीं । इन दोनों स्थितियों में संतुलन रखकर वह अपने पापों का धैर्यपूर्वक प्रक्षालन करता है और परमात्मा में मिल जाने की योग्यता प्राप्त करने में संलग्न रहता है । हम ईश्वर बनकर ही ईश्वर के दर्शन प्राप्त कर सकते हैं । कल्पना, चिंतन, विचार, भावना और स्वप्न के माध्यम से तो उसकी एक झलक ही देख सकते हैं । विश्वास की पुष्टि के लिए यद्यपि यह बुद्धि तत्व भी आवश्यक है तथापि उसके पूर्ण ज्ञान के लिए अपने अंदर प्रविष्ट होना होगा, आत्मा की सूक्ष्म सत्ता में प्रवेश करना आवश्यक होगा ।

१३. वैराग्य

● वैराग्य का अर्थ है रागों को त्याग देना । राग मनोविकारों को दुर्भागों और कुसंस्कारों को कहते हैं । अनावश्यक मोह, ममता, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, शोक, चिंता, तृष्णा, भय, कुङ्ठन आदि के कारण मनुष्य जीवन में बड़ी अशांति एवं उद्दिग्नता रहती है । संसार में जितने दुख हैं उनमें तीन चौथाई काल्पनिक हैं । यदि वह चाहे तो अपनी कल्पना शक्ति को परिमार्जित करके, अपने दृष्टिकोण को शुद्ध करके इन काल्पनिक दुखों के जंजाल से आसानी से छुटकारा पा

सकता है। वैराग्य से दुखों की निवृत्ति होती है। वैरागी मनुष्य ही अपने मानसिक संतुलन को ठीक रख सकता है, जीवन के सच्चे आनंद का उपभोग कर सकता है। उन्नत, समृद्ध, यशस्वी, प्रतापी एवं पारलौकिक संपन्नता के लिए भी वैराग्य की प्राथमिक आवश्यकता है। जीवन को सुसंपन्न बनाने का एकमात्र आधार वैराग्य है।

● गीता का कर्मयोग वैराग्य का ही दूसरा नाम है। पर कितने दुख की बात है कि आज वैराग्य के अर्थ का अनर्थ कर दिया गया है। वैराग्य का अर्थ यह समझा जाता है कि घर छोड़कर चल देना, संसार को मिथ्या बताना। लोक सेवा से सर्वथा दूर रहकर अपनी निजी मुक्ति की, स्वर्ग प्राप्ति की, खुदगर्जी की बातें सोचते रहना। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए ऋषि लोग वैराग्यमय जीवन बिताते थे। हमें हर समस्या पर विवेक के आधार पर विचार करना पड़ेगा। वैराग्य जैसे महान तत्त्व को दैनिक व्यवहार में उपयोग करके अपने जीवन को सच्चे अर्थ में आनंदित बनाना लाभदायक है या वैराग्य का ऊटपटांग आडंबर करना उचित है।

● आज के वैरागी दुनियां को मिथ्या बताते हैं और लोक सेवा के नाम पर नाक भौंह सिकोड़ कर अपने निजी स्वर्ग मुक्ति की तरकीबें लड़ाते हैं। प्राचीनकाल में यह विचारधारा बहुत बुरी दृष्टि से देखी जाती थी। यह तो एक कोरी खुदगर्जी है। जो व्यक्ति अपने निजी स्वार्थ या मुक्ति की साधना में लगे हुए हैं उन्हें दूसरों से भिक्षा मांगने या दूसरों पर अपना भार डालने का अधिकार नहीं है। प्राचीन ऋषि इस प्रत्यक्ष सत्य को भली भांति जानते थे और वे अपने जीवन को लोकोपयोगी कार्यों में लगाए रहते थे। जब अपना सारा जीवन जनता जनार्दन के चरणों में अर्पण कर दिया तो प्रसाद स्वरूप दान के रूप में निर्वाह साधन लेने का भी उन्हें अधिकार था। आज तो

वैरागी कहे जाने वाले लोग लोक सेवा से दूर भागते हैं और दूध मलाई उड़ाने के लिए तैयार रहते हैं । भगवान् बुद्ध कहा करते थे— “मैं तब तक स्वर्ग या मुक्ति नहीं चाहता, जब तक कि संसार का एक भी प्राणी बंधन में है ।”

● वेष की नकल करने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । सिंह की खाल ओढ़ कर गधा सिंह नहीं बन सकता । जिस वेष की नकल कर आज लोग वैरागी कहलाते हैं वह प्राचीन साधारण गृहस्थों का वेष था । धोती, दुपट्टा पहनना, लंबे बाल, झोंपड़ी में निवास करना, लकड़ी की खड़ाऊं, मृग चर्म आसन, हिंसक पशुओं से रक्षार्थ धूनी । यही गृहस्थों के साथ वैरागियों का भी रहन सहन था । आज जब परिस्थितियां बदल गईं तो पुराने रहन सहन की नकल वैरागी होने के साइनबोर्ड की तरह काम में लाई जाती हैं । इस अनुकरण में क्या विवेकशीलता है इसे वे नकलची ही समझ सकते हैं ।

१४. संतोष

● संतोष एक महान आध्यात्मिक भाव है, जो मनुष्य के हृदय की विशालता को व्यक्त करता है । धैर्य, सहन शक्ति, त्याग और उदारताएं सब संतोष का अनुगमन करते हैं । संतोषी पुरुषों में शेष सभी सद्गुण और शुभ संस्कार स्वतः आ जाते हैं । विपुल धन, संपत्ति, रोजगार, भोग, विलास होने पर भी लोगों के जीवन में शांति नहीं दिखाई देती । अमीर भी घोर अशांति में पड़े देखे गए हैं । साधन कभी सुख नहीं दे सकते, यह पूर्णतया प्रमाणित हो चुका है । सुख तो सचमुच आत्मज्ञान प्राप्त करने में ही है । आपको इसके लिए सांसारिक जीवन से अधिकांश में मुक्ति लेनी होगी और थोड़े से सांसारिक साधनों में ही संतोष का भाव व्यक्त करना होगा । इस संसार में स्थिर वित्त रहने के लिए एक मात्र संतोष का ही आश्रय

लेना पड़ेगा । सुख का मूल तो संतोष ही है ।

● आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें या भौतिक दृष्टि से दोनों ही अवस्थाओं में संतोषमय जीवन का महत्व सर्वोपरि है । जिसका स्वभाव संतोषी है वह अभाव की परिस्थितियों में भी व्यग्र अथवा दुखी नहीं होता । दृष्टिकोण की दिशा बदल देने भर से बढ़े से बड़ा असंतोषी व्यक्ति भी संतोषी बन सकता है । यदि किसी कारणवश एक बार उचित इच्छाओं अथवा आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तो उनके लिए दुखी होना पुरुषार्थ नहीं कायरता है । बाहुओं में पुरुषार्थ, मस्तिष्क में संतुलन और हृदय में संतोष रखकर जीवन संघर्ष में भाग लीजिए और आशा का संबल लेकर उत्साह के साथ बढ़े चलिए, दुख आपके समीप नहीं आ सकता ।

● मनुष्य अपने दुख का कारण किसी न किसी अभाव को ही मानता है । पर ज्यों ही एक अभाव पूरा होता है दूसरा अभाव सताने लगता है । दूसरा पूरा होने पर तीसरा । इस प्रकार अभावों का एक क्रम लगा रहता है । अभावों का सर्वथा अभाव हो जाना संभव नहीं । अभाव का अनुभव होना मनुष्य की अपनी मानसिक कमी पर ही निर्भर है । अभाव का अनुभव मनुष्य की आदत है । अभाव का जन्म असंतोष से होता है । असंतोषी को कुबेर का कोष व भू मंडल का राज्य मिल जाए तो भी वह संपन्नता का अनुभव नहीं करेगा । सुख का निवास संतोषी मनोवृत्ति में है प्राप्ति तथा उपलब्धियों में नहीं ।

१५. दान

● हमारे धर्म, संस्कृति में दान का बहुत महत्वपूर्ण स्थान माना गया है । जो बिना दान किए हुए ही संपत्ति का भोग करता है, उसे शास्त्रकारों ने चोर कहा है । अर्थ शुद्धि के लिए दान आवश्यक है । धन संग्रह से भी अनेक व्यक्तिगत और सामाजिक बुराइयां पैदा हो

जाती हैं जिनसे बोझिल होकर मनुष्य कल्याण पथ से भटक जाता है, जीवन की राह पर फिसल पड़ता है। दान समाज की आर्थिक विषमताओं को दूर कर जन जीवन में समत्व पैदा करने की रचनात्मक प्रणाली है। दान से सभी प्राणी वश में हो जाते हैं। दान से शत्रुता का नाश हो जाता है। दान से पराया भी अपना बन जाता है। अधिक क्या कहें दान से सभी विपत्तियों का नाश हो जाता है। दान व्यावहारिक जीवन में एक ऐसी साधना पद्धति है कि उसके माध्यम से हम अपने आप में अनेक आध्यात्मिक, मानसिक, चारित्रिक गुण विशेषताओं का अर्जन कर सकते हैं। दान के द्वारा बहुत बड़ा आत्म संतोष, प्रसन्नता और आंतरिक सुख मिलता है जिसका मूल्य किसी भी भौतिक संपत्ति से कहीं अधिक होता है। यदि संसार में चल रही दान व्यवस्थाएं बंद कर दी जाएं तो मानव समाज के एक बहुत बड़े अंश को नष्ट हो जाने के लिए मजबूर होना पड़े। केवल उन्हीं कार्यों के लिए दान दिया जाना चाहिए जिनके फलस्वरूप संसार में सद्ज्ञान एवं सत्कर्म की अभिवृद्धि होने की संभावना दिखाई पड़े। सोच समझकर पात्र और उसकी आवश्यकता को देखकर, उपयोगिता को समझकर, बिना किसी लाग लपेट के स्वच्छ हृदय से दान दीजिए और समाज का भला कीजिए।

● हर व्यक्ति उतनी ही सुविधा सामग्री उपयोग करे जितनी कि उसके जीवित रहने के लिए आवश्यक है। अधिक का न तो संग्रह करे और न उपयोग। यदि कुछ लोग अधिक संग्रह और उपभोग करने लगेंगे तो उतना ही भाग दूसरे लोगों का कम पड़ेगा और उन्हें अभावग्रस्त रहना पड़ेगा। यदि कोई व्यक्ति अमीर बन रहा है तो उतनी ही गरीबी किसी के पल्ले बंध रही होगी। अमीरों में विलासी जीवन जीने की उत्कंठा सामान्य व्यक्तियों में भी हवस भड़काती है अतः वे भी अनुचित रीति से धन कमाने पर उतारू होते हैं। यह

असमानता ईर्ष्या को जन्म देती है ।

● विवेक और न्याय की पुकार ने धर्म और अध्यात्म में इस तथ्य का समावेश किया है कि व्यक्ति उदार, दानी, त्यागी और परोपकारी बने और इसके लिए स्वेच्छापूर्वक अपनी कर्माई का उतना अंश अपने लिए रखे जिससे समाज में औसत जिंदगी जी सकना संभव हो, शेष को दान कर दिया जाए। अपने देश में जो पिछङ्गापन है उसे दूर करने के लिए धन और प्रतिभा तो उन्हें किसी पर अहसान जताने के लिए नहीं, यश और सम्मान पाने के लिए नहीं वरन् इस प्रायश्चित के साथ समाज को लौटा देना चाहिए कि अब तक उसने ऐसा क्यों नहीं किया ? कठोर हृदय एवं अनुदार चित्त वाले व्यक्ति ही संग्रह कर सकते हैं। यह भूल जिनसे हुई उनके लिए प्रायश्चित यही है कि शरीर में संग्रहीत विष की तरह अनुचित संचय का त्याग कर दें ।

१६. बुद्धि

● गायत्री मंत्र में कुमार्ग से हटाकर सत्य मार्ग पर चलाने की प्रेरणा विद्यमान है। गायत्री का अंतिम वाक्य “धियो यो नः प्रचोदयात्” में प्रार्थना की गई है कि वह हमारी बुद्धि को ऐसी प्रेरणा दे कि जिससे हम असत मार्ग को त्याग कर सतमार्ग को जानने और उस पर चलने में समर्थ हो सकें। हमारे सब प्रकार के मनोरथों और प्रयत्नों के सफल होने का प्रधान साधन सद्बुद्धि ही है। जिन लोगों की बुद्धि लोभ, मोह अथवा अहंकार के वशीभूत होकर विपरीत हो जाती है वे संसार में सच्चा सुख कभी नहीं पा सकते। चाहे प्रकट में वे वैभव संपन्न हों, अच्छे मकानों में रहते हों, बढ़िया वस्त्र पहिनते दिखाई पड़ते हों और चाहे वे दूसरे लोगों पर अपना रौब, शान अथवा आतंक जमाते हों पर अपने मन के भीतर वे स्वयं अपने को श्रेष्ठ अनुभव नहीं कर सकते। इसलिए मनुष्य के लिए सबसे

पहला आवश्यक गुण सद्बुद्धि ही है जिससे वह प्रत्येक कार्य में भले बुरे अथवा उचित अनुचित का निर्णय करके सत्यपथ पर चल सके । संपूर्ण गायत्री मंत्र का आशय यही है कि हम परमात्मा से ऐसी शुद्ध बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना करें जिससे अपना और दूसरों का कल्याण करने का भाव सदैव बना रहे और स्वार्थ के साथ ही परमार्थ को प्रधानता देकर हम इस मनुष्य जन्म को सफल बनाएं । चौबीस अक्षरों से जो गायत्री के शब्द बने हैं उनके उच्चारणों से शरीर, मन, बुद्धि और हृदय पर दिव्य प्रभाव पड़ता है । जब निरंतर यह प्रक्रिया जारी रहती है तो बुद्धि का मोटापन दूर होने लगता है और वह तीक्ष्ण बनने लगती है । मनुष्य का सच्चा हित दैवी बुद्धि अथवा सद्बुद्धि से ही हो सकता है ।

● बुद्धि की मलिनता को दूर करके शुद्धता, निर्मलता प्राप्त करने के निमित्त परमात्मा से प्रार्थना की जाए । जब मनुष्य की बुद्धि शुद्ध और सुमार्ग पर चलने वाली हो जाती है तो मनुष्य स्वयमेव ही धन, विद्या और बल जैसे सांसारिक विषयों में सफलता प्राप्त करने लगता है । देवता दंड लेकर पशु रक्षा की भाँति पुरुष की रक्षा नहीं करते । वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे बुद्धि देते हैं और जिसे असफल बनाना चाहते हैं उसकी बुद्धि पहले छीन लेते हैं ।

● साधन रहित पुरुष के अंतःकरण में श्रेष्ठ बुद्धि नहीं हो सकती और उसके बिना श्रेष्ठ भावना का विकास भी नहीं हो सकता । बिना श्रेष्ठ भावना के शांति प्राप्त नहीं हो सकती और शांति रहित पुरुष सुख प्राप्त नहीं कर सकता । मनुष्य का प्रथम लक्षण यही है कि अपनी शक्ति और साधनों का उपयोग दूसरों के हितार्थ करें । जिस मनुष्य का चिंतन इस प्रकार है उसी को सद्बुद्धि प्राप्त है ।

१७. श्रेष्ठ विज्ञान

● संसार का वास्तविक तत्व आत्मा ही है जो जरा मरण से रहित शोक से मुक्त नित्य और अविनाशी है । उसका ज्ञान हो जाने से मनुष्य उसी की भाँति ही भय, शोक, चिंता और मरण धर्म से मुक्त हो जाता है । आत्मा ही मानव जीवन का चरम सत्य है । आत्मज्ञान ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है जिससे वह जीव भाव से मुक्त होकर ईश्वरीय भाव में लीन हो जाता है । दुखों का कारण भी यही है कि हम अपने शाश्वत स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते । सुख और शक्ति का मूल है मनुष्य की आत्मा । जब तक वह आत्म साक्षात्कार नहीं कर लेता तब तक उसकी शक्ति ऐसी है जैसे घर में अपार सोना गढ़ा है पर वह किस स्थान पर है यह ज्ञात नहीं । आत्मा ही सिद्धियों की जननी है । आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए कुल, देश और काल का कोई बंधन नहीं है । अपनी श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास, लगन और तत्परता के बल पर हीन कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी आत्मोद्धार कर सकता है । आत्मा की प्रसुसि का कारण है मनुष्य का अज्ञान । यह अमूल्य जीवन पाकर भी यदि आत्मकल्याण न किया जा सके तो न जाने कितने वर्षों तक फिर अनेक कष्ट साध्य योनियों में भटकना पड़ेगा । आत्मज्ञान के मूल में वह शक्ति, वह सामर्थ्य और विशेषताएं सत्रिहित हैं कि उन्हें यदि जागृत कर लिया जाए तो मनुष्य अपने आप में महामानव तथा परमात्मा की सी शक्ति अनुभव कर सकता है । आत्मा वह कल्पतरु है जिसकी छाया में बैठने से कोई भी कामना अपूर्ण नहीं रहती । श्रेष्ठता मनुष्य की आत्मा है । अत्मज्ञान का संपादन और आत्म केंद्र में स्थिर रहना मनुष्य मात्र का पहला और प्रधान कर्तव्य है ।

● सांख्य दर्शनकार ने आत्मा और अनात्मा के बीच अंतर न समझने में अज्ञान को दुखों का कारण बतलाया है । उनका कहना

है कि मनुष्य जब अज्ञानवश अपने को शरीर मान लेता है तभी वह दुखों का अनुभव करता है । दुखों का अनुभव करना शरीर का धर्म है । शीत, घाम, वर्षा, भूख, प्यास, वियोग, विद्रोह आदि अप्रिय परिस्थितियां शरीर को ही व्यापा करती हैं और वही इनका अनुभव करता है । जब मनुष्य अपनी अनुभूतियों को शरीर तक सीमित कर लेता है अथवा अपने को शरीर मान लेता है तो यह स्वाभाविक ही है कि शरीर का कष्ट उसे अपना कष्ट अनुभव हो ।

● यदि आपको अपनी रुचियों और प्रवृत्तियों में कुरुपता, कुत्सा और कलुष उन्मुखता का आभास मिले तो समझ लेना चाहिए कि आपकी आत्मा सोई हुई है और साथ ही यह भी मान लेना चाहिए कि यह एक बड़ा दुर्भाग्य है, एक प्रचंड हानि है । इतना ही क्यों वरन् तुरंत उसे दूर करने के लिए तत्पर हो जाना चाहिए । यदि आप प्रमादवश जिस स्थिति में हैं उसमें ही पड़े रहना चाहेंगे तो निश्चय ही अपनी ऐसी क्षति करेंगे जो युग युग तक, जन्म जन्मांतरों तक पूरी नहीं हो सकती । सत्यं शिवं सुंदरम की अनुभूति और अभिरुचि उसी को होती है जिसकी आत्मा में जागरण होता है ।

१८. निर्मल (पाप रहित)

● मनुष्य को बाहर और भीतर से पवित्र रहना चाहिए क्योंकि पवित्रता में ही प्रसन्नता रहती है । पवित्रता एक आध्यात्मिक गुण है । आत्मा स्वभावतः पवित्र और सुंदर है । इसलिए आत्मपरायण व्यक्ति के विचार, व्यवहार तथा वस्तुएं भी सदा स्वच्छ एवं सुंदर रहते हैं । शारीरिक स्वच्छता, मानसिक विचारों और भावों की स्वच्छता, शुद्ध व्यवहार, आजीविका, लेने देने में, व्यावहारिक विषयों की पवित्रता, आध्यात्मिक विषयों की पवित्रता ऐसे कई भेद हैं । सफाई से रहना देवत्व के समीप रहना है । पवित्रता मानव जीवन की सार्थकता के लिए अनिवार्य है । मनुष्य का विकास और उत्थान केवल ज्ञान अथवा

भक्ति की बातों से ही नहीं हो सकता उसे व्यावहारिक रूप में भी अपनी उच्चता और श्रेष्ठता का प्रमाण देना आवश्यक है और इसका प्रधान साधन पवित्रता ही है। मनुष्य के लिए शरीर, मन, चरित्र, आचार विचार आदि सब प्रकार की पवित्रता आवश्यक है। आपको केवल अपनी व्यक्तिगत स्वच्छता का ध्यान रखना ही पर्याप्त नहीं है वरन् आसपास भी कहीं कोई गंदगी, अस्वच्छता दिखलाई नहीं पड़नी चाहिए क्योंकि मनुष्य सामाजिक जीव है और उसके जीवन का एक क्षण भी बिना दूसरों के सहयोग के व्यतीत नहीं हो सकता। इसलिए उसकी पवित्रता तभी कायम रह सकती है जब कि समस्त समाज में पवित्र जीवन की भावना समाविष्ट हो जाए। यदि आप वास्तव में अपने कल्याण की अभिलाषा रखते हों तो पवित्र जीवन जीने का प्रयास करें।

● यदि शारीरिक पवित्रता का ध्यान न रखा जाएगा तो स्वास्थ्य कभी अच्छा नहीं रह सकता और अस्वस्थ व्यक्ति कोई अच्छा काम नहीं कर सकता। इसी प्रकार मानसिक पवित्रता के बिना मनुष्य में सज्जनता, प्रेम, सद्व्यवहार के भाव उत्पन्न नहीं हो सकते और वह संसार में किसी की भलाई नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति में चरित्र की पवित्रता नहीं है वह कभी संसार में प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त नहीं कर सकता। यदि मुँह पर नहीं तो परोक्ष में सब लोग उसकी निंदा और बुराई ही करेंगे। आचार विचार की पवित्रता ने यद्यपि आजकल ढोंग का रूप धारण कर लिया है और इस कारण अनेक आधुनिक विचारों के व्यक्ति उसे आवश्यक समझने लगे हैं पर वास्तव में मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का संबंध आचार विचार की पवित्रता से है। खान पान में शुद्धता और पवित्रता का ध्यान न रखने से केवल हमारा स्वास्थ्य ही खराब नहीं होता वरन् हमारा मानसिक संयम भी नष्ट हो जाता है और हमको चटोरेपन की

हानिकारक आदत लग जाती है । इसी प्रकार विचारों में शुद्धता का ख्याल न रखने से काम, क्रोध, लोभ आदि की हानिकारक भावनाएं बढ़ती हैं ।

१९. अचल (स्थिर मन)

● गायत्री मंत्र में 'स्वः शब्द मन की स्थिरता का निर्देश करता है । चंचल मन को स्वस्थिर और स्वस्थ रखने का यह उपदेश देता है । सत्य में निमग्न रहो यह कहता है । इस उपाय से संयमी पुरुष तीनों प्रकार की शांति प्राप्त करते हैं । मन को अपने अंदर स्थिर रखो । अपने भीतर दृढ़ रहो । घटनाओं और परिस्थितियों को जल तरंगें समझो, उनमें क्रीड़ा कल्लोल का आनंद लो । अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही स्थितियों का रसास्वादन करो । किंतु उनके कारण अपने को उद्धिग्न, अस्थिर, असंतुलित मत होने दो । आत्मस्थित मनुष्य का अंतस्तल स्वस्थ होने से वह सदा प्रसन्न रहता है । उसके चेहरे पर प्रसन्नता नाचती रहती है । उसकी वाणी से मधु टपकता है और बोलने से फूल झड़ते हैं । ये ह, आत्मीयता, नम्रता, सौजन्य एवं हित कामना का सम्मिश्रण होते रहने से उसकी वाणी बड़ी सरल एवं हृदयग्राही हो जाती है । स्वस्थ आत्मा में स्थित व्यक्ति में बालकों की तरह सरलता, ममता, आत्मीयता, दया एवं सहानुभूति होती है । वह किसी से कुछता नहीं न किसी का बुरा चाहता है । ईश्वर पर विश्वास होने से वह भविष्य के बारे में आशावादी और निर्भय रहता है । फलस्वरूप अप्रसन्नता उसके पास नहीं फटकती और आनंद एवं उल्लास से उसका अंतःकरण भरा रहता है । यह आनंदमयी स्थिति उसकी मुख्यकृति एवं वाणी से हर घड़ी छलकती रहती है । गायत्री का स्वः शब्द हमें ऐसी स्वस्थता की ओर ले जाता है ।

● यदि हम आनंद लूटना चाहते हैं तो हम कृतज्ञता अकृतज्ञता को

बिल्कुल भुला दें और जिसे देना हो, उसे कुछ भी इस भाव से दें कि वह हमें इसका कोई प्रतिदान नहीं देगा । हम दूसरों से बदले में कुछ भी पाने की आशा न रखें यही उत्तम है । प्रसन्न रहने का मार्ग यह है कि आप दूसरों की कृतज्ञता, उत्साह, प्रेरणा, प्रोत्साहन या किसी प्रकार की भी सहायता की भावना मन से निकाल डालें । मुझे दूसरे की किसी प्रकार की सहायता नहीं चाहिए । मेरे पास सब कुछ है । यह भावना मन में रख कर कार्य करें । जिसे जो कुछ देना है उसे निस्वार्थ भाव से, बिना कुछ प्रतिदान पाने की कामना किए, दें ।

● अपने अभाव का, अपनी कमजोरियों का, अपने पास जो वस्तुएं नहीं हैं, उनका चिंत करना, अपनी उत्पादक और सृजनात्मक शक्तियों का क्षय करना है । आप चाहे जैसी स्थिति में क्यों न हों, आपको ऐसी अनेक वस्तुएं या गुण अपने अंदर मिल जाएंगी जो दूसरों के पास नहीं हैं । ये चीजें आपको दूसरों की अपेक्षा उन्नत भाग्यशाली और उच्च बनाती हैं । उनके आधार पर अपने मन को स्थिर रखें ।

20. मन वश में होना)

● मन के नियंत्रण में न होने के कारण ही लोग पारलौकिक जीवन की यथार्थता, आवश्यकता और उपयोगिता को भूलकर लौकिक सुख स्वार्थ की पूर्ति में संलग्न हो गए हैं कि उन्हें भले बुरे, उचित अनुचित का भी ध्यान नहीं रहा । मनुष्यों के बंधन और मोक्ष दोनों का कारण मन ही है । सारी सिद्धियों का मूल मनसंयम में है । मन की साधना किसी पुरुषार्थ से, योग से बढ़कर है । जिसने मन को जीत लिया, उसने संसार को जीत लिया । यदि मन शुद्ध, पवित्र और संकल्पवान बन जाए तो हमारे जीवन की धारा ही बदल सकती है । मन की एकाग्रता की उपलब्धि होते ही मनुष्य के अंदर

सोई सारी शक्तियां जाग उठेंगी । जिके बल पर वह असंभव दीखने वाले कामों को भी संभव कर सकता है । मन स्वस्थ और नियंत्रित है तो वह अपने विवेक बल से अच्छे बुरे का, उचित अनुचित का ज्ञान प्राप्त कर परिस्थितियों को काबू में ला सकता है । आवश्यकता सिर्फ इतनी है कि ऐसी स्थिति में विवेक का अंकुश, मन का नियंत्रण इतना कठोर हो कि उसे प्रलोभनों की ओर झुकने न दिया जाए । मन बड़ा शक्तिशाली है । पर उससे कोई विशिष्ट लाभ तभी प्राप्त किया जा सकता है जब उसे पूर्ण नियंत्रण में रखा जाए । जीवन लक्ष्य की प्राप्ति, सांसारिक सुख सुविधाएं प्राप्त करने के लिए भी यह शर्त अनिवार्य है । हमारा मन वश में हो जाए तो इस जीवन को स्वस्थ व समुन्नत बना सकते हैं और पारलौकिक जीवन का भी मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं । अभ्यास और वैराग्य से यह वश में किया जा सकता है । कहा भी है कि ‘मन के हारे हार है, मन के जीते जीत’ । अतः आप छोटा होने का विचार अपने मन से निकाल कर दूर फेंक दीजिए । आपके मन में अपार सामर्थ्य है ।

● ‘जितं जगत् केन ? मनो हि येन’ अर्थात् जिसने मन को जीत लिया उसने संसार को जीत लिया । हमारा मन एक उपजाऊ खेत है जिससे जो वस्तु चाहो पैदा कर सकते हो । जो इसका उचित उपयोग करेगा वह लाभ पाएगा । जैसा बोएगा वैसा काटेगा । किंतु मन की यह क्षेत्रता प्राकृतिक नहीं है । इसे बनाना पड़ता है । अनिर्भित मन भी वन भूमि की तरह घास पात, कुश कंटक और अनुपयोगी वनस्पति ही पैदा करता रहता है । उसका परिमार्जन और उसकी नवीनता है एकाग्रता । मन एकाग्र स्थिति में लाए बिना उसकी शक्तियों का लाभ नहीं उठाया जा सकता । जीवन विकास के लिए एकाग्रता की साधना करते ही रहना चाहिए । जिस प्रकार आतिशी शीशा सूर्य की किरणों को एकाग्र कर किसी को जला देने

की शक्ति संपादित कर लेता है उसी प्रकार एकाग्र मन अपनी एकत्र शक्तियों द्वारा कोई भी प्रयोजन सिद्ध कर सकता है । उत्त्रति कोई आकस्मिक घटना नहीं है । वह क्रमिक विकास और प्रगति की अविरल प्रक्रिया का परिणाम है जिसे एकाग्रतापूर्वक ही पूरा किया जा सकता है । मानसिक चंचलता मनुष्य की सारी क्षमताएं बिखेर कर उन्हें निर्बल और निरर्थक बना देती हैं । मन की एकाग्रता के लिए इसको बहुमुखी न रखकर एकमुखी बनाया जाए । मनुष्य को चाहिए कि वह संसार की तमाम निरर्थक और अनुपयोगी बातों को छोड़कर अपने मन को किसी एक निश्चित लक्ष्य, प्रयोजन अथवा ध्येय में लगाए । मन एक बार में एक ही काम कर सकता है ।

२१. अहिंसा

● भारतीय धर्मशास्त्रों में अहिंसा का बड़ा महत्व बताया गया है । इसका सामान्य सा अर्थ है किसी की हिंसा न करना, निरपराध प्राणियों को न सताना और न ही किसी को कष्ट पहुंचाना । किसी को कष्ट न पहुंचाने की नीति का अर्थ यह नहीं है कि अपराधियों और दूसरों को हानि पहुंचाने वालों को भी दंडित न किया जाए, उनके कृत्यों का प्रतिकार न किया जाए । ऐसे कृत्यों का दमन करने के लिए बरती गई दंड नीति को मनीषियों ने वैदिक हिंसा कहा है । वैदिक हिंसा से तात्पर्य है विचार और विवेकपूर्वक अवांछनीय तत्वों का दमन । अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है । किसी को न मारना तो दूर, कुविचार मात्र हिंसा है । मिथ्या भाषण, द्वेष, किसी का बुरा चाहना भी हिंसा है । जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है, उस पर अनाधिकार पूर्वक स्वार्थवश कब्जा रखना भी हिंसा है । गांधी जी अहिंसा को कायरों का नहीं, वीरों का भूषण कहा करते थे । इसे उन्होंने वीरों का मार्ग बताया था । दुष्टता या अवांछनीयता का दमन, प्रतिरोध, किसी भी

प्रकार किया जाए ऐसा कार्य अहिंसा के अंतर्गत ही आता है । शास्त्र से हो या शास्त्र से दुष्टता का अवांछनीयता का प्रतिकार कदापि हिंसा नहीं हो सकता । उसकी गणना भी अहिंसा में ही होगी क्योंकि अवांछनीय तत्वों का दमन करने से उनके कारण पीड़ित होने वाले अधिक लोगों को सुख चैन से रहने का अवसर मिलेगा । निरापद प्रणियों को अनावश्यक कष्ट न सहना पड़ेगा ।

● अहिंसा सही अर्थों में साहस का पर्याय है । शूरवीरों का भूषण है । आतंक एवं दमन का प्रतिकार भी अहिंसा में ही आता है । अहिंसा का वास्तविक अभिप्राय है प्राणी मात्र के प्रति सहानुभूति का भाव रखना । अहिंसा कायरों की नहीं वीरों की साधना है । जहां किसी तरह जान बचा लेने की भावना है या जहां खतरे से मुंह भोड़ने या भाग जाने की संभावना है वहां अहिंसा नहीं हो सकती । इससे तो हिंसा ही श्रेष्ठ है जिसमें भय, संकट या हमले का सीधा सामना किया जाता है । किसी भी प्रकार आततायी एवं अत्याचारी का दमन मनुष्यता के हित में ही है और अहिंसा का अर्थ भी यही है कि मनुष्य जाति का हित एवं अधिक से अधिक लोगों का कल्याण हो । इसके लिए अहिंसक स्वभाव के व्यक्ति दृढ़तापूर्वक उन विषयों में दृढ़ रहते हैं जिनसे कि मनुष्य का हित संधता है ।

● अहिंसा का अर्थ है सहानुभूति । दूसरों के दुख में उस जैसा ही कष्ट अनुभव करना यह भी सहानुभूति है । अपने कष्ट का निवारण करने के लिए जैसी आकुलता होती है यदि वैसी ही दूसरों के कष्ट में भी की जा सके और उनका निवारण करने के लिए दया, करुणा भरा सहयोग दिया जा सके तो उसे सहानुभूति का मूर्त रूप कहेंगे । क्रियात्मक न बन पड़े तो वाणी से अथवा भावना से भी उसे व्यक्त किया जा सकता है । उससे कष्ट पीड़ित को किसी सीमा तक लाभ ही होता है ।

२२. यम (शौचादि नियम)

● योग दर्शन में बताया गया है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मवर्य और अपरिग्रह यह पांच नियम हैं । शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान यह पांच नियम हैं । यम, नियम पर चलने से मनुष्य के सकल मनोरथ सिद्ध होते हैं । यम, नियम की महत्ता असाधारण है । इनकी साधना से योग द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियां सहज ही मिल जाती हैं । राज योग में यम, नियमों को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है । आत्मोन्नति के लिए जिन सीढ़ियों पर पांव रखकर चढ़ना पड़ता है उनमें आरंभिक सीढ़ी नियम है । मार्ग का व्यतिक्रम करके एक दम ऊपर चढ़ जाने की तुष्णा न करें । प्रारंभिक साधना यम, नियमों की है । इसलिए आरंभ यही से करना चाहिए । हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और लोभ इन पांच दुष्कर्मों का निवारण करने की व्यवस्था यमों के अंतर्गत है और मलिनता, बेदैनी, आलस्य, अज्ञान, नास्तिकता को दूर करने के लिए नियमों का विधान है । यह दस रोग ऐसे हैं जो शारीरिक और आत्मिक स्वास्थ्य को खा डालते हैं, भीतर से मनुष्य को जर्जर कर देते हैं । जो साधक ब्रह्म परायण होना चाहते हैं, ब्रह्मविद्या प्राप्त करना चाहते हैं, योग में प्रवृत्त होना चाहते हैं उनका सर्वप्रथम कार्य यह है कि अपने विचार और आचरणों को नेकी, भलाई, पवित्रता, ईमानदारी और सच्चाई से परिपूर्ण बनाने का प्रबल प्रयत्न करें । यम, नियमों की शिक्षा के अंतर्गत योग शास्त्र के आधारों का यही दृढ़ आदेश है । यम, नियमों की साधना से आत्मा का सच्चा विकास होता है और उसके कारण जीवन सब प्रकार की सुख, शांति से परिपूर्ण हो जाता है ।

● यम, नियमों की साधना से जो सिद्धियां मिलती हैं उनमें कोई आश्वर्य की बात नहीं है । एक स्वस्थ शरीर के मनुष्य को

कांतिवान, फुर्तीला, बलवान, तेजस्वी, प्रभावशाली, बुद्धिमान, प्रसन्नचित्त और कमाऊ होना ही चाहिए। यह स्वस्थता के स्वाभाविक चिह्न हैं। इनका होना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। हां बीमार आदमी के लिए यह सब बड़ी भारी नियमों में हैं। यम, नियमों का पालन करना आत्मा की स्वाभाविक और स्वस्थ कार्य प्रणाली है। इसके फलस्वरूप स्वभावतः वे सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं जो उलटे मार्ग पर चलने वालों को आश्चर्यजनक और सुर दुर्लभ प्रतीत होती हैं।

● श्रेष्ठ आचरण, सदाचार, भलाई का जीवन, ज्ञानपूर्ण दृष्टिकोण, मनुष्यता का पालन यही यम नियमों का तात्पर्य है। अच्छे मार्ग पर चलना, अच्छे काम करना, अच्छाई को पसंद करना, यह योग की प्रथम सीढ़ी है। बुराई से बचकर अच्छाई का अवलंबन करना, स्वार्थ की ओर से वृत्ति हटाकर परमार्थ में दिलचस्पी लेना, प्राणियों के साथ प्रेम और सेवा का व्यवहार करना ऐसी उत्तम नीति है जिससे मलीनता कटती है और अंतःकरण में पवित्रता एवं निर्मलता का आविर्भाव होने लगता है।

२३. ब्रह्मण, गुरु का पूजन

● शास्त्रों में गुरु का महत्व भाता पिता के तुल्य बताया गया है। इतना ही नहीं अनेक स्थानों पर तो 'गुरु साक्षात् परब्रह्म' कहकर उसकी सर्वोपरिता को भी स्वीकार किया गया है। जो अपने चरित्र और विद्वत्ता की कसौटी पर कस कर पूर्णता प्राप्त कर लेते थे शिक्षा का गुरुतर कार्य उन्हीं को सौंपा जाता था। गुरु शब्द में 'ब्रह्म विद्या' का बोध होता है। विद्यार्थी जीवन में बुद्धि का उदय होता है। इसलिए उसमें आसानी से श्रद्धा उत्पन्न करके ब्रह्मतत्त्व की ओर प्रेरित किया जा सकता है। विद्यार्थी जीवन में तपश्चर्या, तत्परता और संयम भावना जागृत करने की आवश्यकता है। इसके लिए

गुरु शिष्यों के संबंधों में अनुशासन का भाव पैदा करना आवश्यक है। राष्ट्र को ज्ञानवान, प्रकाशवान तथा शक्तिवान बनाने के लिए गुरु और शिष्य परंपरा का सुधार नितांत आवश्यक है। लोक जीवन में विकास की समस्या इसके बिना कभी भी पूरी न होगी। 'गुरु गौरव' अभी भी सुरक्षित है और उसका पूर्ण विकास संभव है। इसमें कुछ देर भले ही लगे किंतु आत्मा की ज्ञान पिपासा को अधिक दिन तक भुलाया नहीं जा सकता। उसके जगाने का समय अब करीब आ पहुंचा है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम योग्य, विचारवान, दृढ़ चरित्र तथा ब्रह्मवेत्ता गुरुजनों को खोज निकालना होगा। शिक्षा की नींव जब तक चरित्रवान व्यक्तियों के हाथों से नहीं पड़ेगी तब तक जातीय विकास की समस्या हल न होगी।

● गुरुकुल प्रणाली में विद्यार्थी अपने गुरु के समीप रहकर जहां अक्षराभ्यास, भाषा बोध, व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि का अध्ययन करते थे वहां उन्हें चरित्र, सदाचरण, पवित्रता, आंतरिक निर्मलता, अतिथि सेवा, भ्रातृ भावना, सहयोग, सहानुभूति, परदुख कातरता और परोपकार की शिक्षा दी जाती थी। मानसिक प्रौढ़ता, विचारशक्ति, उत्तम स्वास्थ्य और शुद्ध जीवन लेकर स्नातक जिस क्षेत्र में प्रवेश करते थे उसी में सत्य को प्रतिस्थापित कर योग्य नागरिक कहलाने का श्रेय प्राप्त करते थे। तपोनिष्ठ होने से उनका शरीर स्वर्ण जैसा देदीप्यमान होता था। संसार की कठिनाइयों से संघर्ष करने की उनमें शक्ति होती थी। वार्तालाप विवेचन, विश्लेषण और विचार विनियम के द्वारा उनमें गंभीर चिंतन की प्रवृत्ति जागती थी। साधना और स्वाध्याय के सम्मिश्रण से उनको आत्मज्ञान की अनुभूति हो जाती थी। गुरु विहीन व्यक्तियों की भर्त्सना होती थी। 'निगुरा' शब्द एक तरह की गाली समझी जाती थी। इसे एक सामाजिक अपराध समझा जाता था।

२४. धर्ममय जीवन

● शास्त्र का वचन है कि जो धर्म का पालन करता है उसकी धर्म ही रक्षा करता है । जिसने धर्म त्यागा, उसे सभी विभूतियां त्यागकर छली जाती हैं । धर्म का प्रधान चिह्न है सदाचार एवं कर्तव्यपालन । विदुषी कौशल्या ने कहा—“हे राम ! तुमने जिस धर्म की प्रीति और नियम का पालन किया है, जिसके अनुसरण से तुम वन जाने को तत्पर हुए हो, वही धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा” । जो मनुष्य को धारण करे, शुद्ध और पवित्र बनाकर उसकी रक्षा करे, वही धर्म है । धर्मशील पुरुष के अंतःकरण में वह बल होता है जो हजारों विघ्नों, कोटिक प्रतिद्वंद्वियों को परास्त कर देता है । ईश्वर जैसे अनादि और सनातन है वैसे ही धर्म भी सनातन है । विज्ञान और धर्म के बीच कोई मतभेद नहीं है । विज्ञान वास्तविकता की खोज का सही तरीका है और धर्म द्वारा जीवन में संतुष्टि का रास्ता खोजा जाता है । धर्म गुणों के विकास में आत्मा या परमात्मा को प्राप्त करने का विज्ञान है और उससे हम सब तरफ से जुड़े हुए हैं । मानव जाति की रक्षा, धारण, पोषण व्यवस्था, समाज में ‘सत्त्व संशुद्धि’ अर्थात् सद्गुणों की वृद्धि, शुद्धि के लिए व्यवस्था की अत्यंत आवश्यकता है । इसके बिना समाज का ढांचा सुव्यवस्थित एवं सुरित्थर रहना संभव नहीं है । पुण्य वे कार्य हैं जो व्यक्ति को त्यागी बनाकर उसे समाज के लिए उपयोगी बनाते हैं । अपने लिए अपेक्षाकृत कम चाहना और दूसरों की सुविधा का अधिक ध्यान रखना यह मनोवृत्ति धर्म की आधारशिला है । सच्चे धर्म को पहिचानने की और उसी की रक्षा करने की आवश्यकता है । जिससे हमारी रक्षा हो । अज्ञान और आडंबर के पर्दे को हटाकर हमें सत्य के दर्शन करने चाहिए । सत्य का अवलंबन करने में ही धर्म है और धर्म के ऊपर ही हमारी वैयक्तिक और सामूहिक उन्नति तथा रक्षा निर्भर है ।

● आध्यात्मिक उन्नति की परीक्षा इसी कसौटी पर की जाती है कि मनुष्य का स्वार्थ कितना घटा और परमार्थ कितना बढ़ा है । भजन पूजन यदि सच्चा हो तो उसका प्रतिफल इसी रूप में परिलक्षित होना चाहिए । तृष्णा और वासनाएं निम्न स्तर की मनोभूमि में बढ़ी चढ़ी रहती हैं । जैसे जैसे आंतरिक स्तर बढ़ता है वैसे वैसे मनुष्य संयम और सेवा की बात सोचने लगता है । दूसरों से अपना स्वार्थ कैसे सधे ? यह सोचने की अपेक्षा उसकी इच्छा यह रहती है कि जो कुछ अपने पास है उसका लाभ दूसरे उठा सकें, ऐसा कुछ करते रहा जाए ।

● मानवता का चिह्न यह है कि दूसरों की सुख सुविधाओं का, उनके उचित अधिकारों का ध्यान रखते हुए ही अपनी सुविधा एवं उन्नति की व्यवस्था करें । नीति और सदाचारपूर्वक उन्नति करने का लक्ष्य धार्मिक मनुष्यों का होता है । देवता उन्हें कहते हैं जो अपने स्वार्थों की हानि सहन करके भी दूसरों की सुख सुविधा का प्रयत्न करते हैं । दूसरों के सुख में अपना सुख और उनके दुख में अपना दुख समझकर परमार्थ में संलग्न होते हैं । वहीं देवताओं का निवास होता है और जहां देवताओं का निवास होता है वहां स्वर्ग बन जाता है । स्वर्ग में किसी बात की कमी कभी नहीं रहती । दुख दारिद्र्य भी वहां फटकने नहीं पाते ।

पहले अपने को तो सुधारो

आज चारों ओर जो विषम परिस्थितियां दिखाई दे रही हैं उनसे संसार का प्रत्येक व्यक्ति दुखी है । युग निर्माण और उज्ज्वल भविष्य की बात कौन कहे, वर्तमान समस्याओं का न तो कोई ओर-छोर दिखाई देता है और न कोई समाधान । चतुर्दिक हताशा एवं निराशा से ग्रसित व्यक्ति पारस्परिक अविश्वास के दूषित वायुमंडल में सांस लेने को विवश हो रहे हैं । जिसे हम विकास का ठोस आधार समझ

रहे हैं वह वास्तव में हमें विनाश की ओर ही ले जा रहा है । कथित प्रगति के साथ साथ हमारे दुखों में भी दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हो रही है । ऐसे में भविष्य अंधकारमय ही दिखाई देता है ।

यदि इस विकट समस्या पर जरा गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि सारी मुसीबत की जड़ हमारे भीतर है । हम अपने को तो देखते ही नहीं और सारे संसार की समस्याओं का निराकरण करने हेतु दूसरों की जड़ खोदने को सदैव तत्पर रहते हैं । हमारे अंदर जो दुष्प्रवृत्तियाँ और दुर्व्यसन अपना अड़डा जगाए बैठे हैं उनकी ओर ध्यान देने का हमें तनिक भी समय नहीं है । उल्टे उनके नशे में हम इतने मग्न रहते हैं कि उन्हें छोड़ने को किसी भी प्रकार तैयार नहीं होते । परिणाम यह होता है कि हम स्वयं ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हैं और सारी दुनिया को अपने कष्टों के लिए दोष देते रहते हैं ।

वास्तविकता तो यह है कि आज प्रत्येक व्यक्ति अपने बारे में ही सोचता है । पर यह सोच केवल उसके अपने स्वार्थ पर ही आधारित है । वह अपने चरित्र निर्माण का तो कोई प्रयास करता नहीं पर संसार की समस्त सुख सुविधाओं का, धन संपदाओं का उपयोग करने को लालायित रहता है । फिर उसे सुख, शांति व संतोष कैसे प्राप्त हो सकेगा । अनादिकाल से ऋषियों मनीषियों ने सदैव इस तथ्य पर ही बल दिया है कि मनुष्य को सब से पहले अपने चरित्र और व्यक्तित्व को एक ठोस आधार प्रदान करना चाहिए । यदि वह ऐसा कर लेगा तो संसार की समस्त दैवी शक्तियाँ उसकी सहायता करेंगी और उसके चारों ओर आनंद का अथाह सागर लहराने लगेगा । गीता में भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन को यही उपदेश दिया था कि वह दुष्प्रवृत्तियों के दलदल से अपने को बाहर निकाले तथा निस्वार्थ भाव से अपने कर्तव्यों का पालन

करे । आसुरी शक्तियों से अपना पीछा छुड़ाकर दैवी संपदाओं को ग्रहण करे ।

यह शंका भी स्वाभाविक हो सकती है कि यदि हम अपना चरित्र निर्माण कर भी लेंगे तो उससे युग निर्माण कैसे हो जाएगा ? अकेला चना कहीं भाड़ फोड़ सकता है ? पर यह शंका तो पूरी तरह निराधार ही है । हम इसके सकारात्मक पक्ष का ध्यान नहीं करते । इससे दो लाभ तो प्रत्यक्ष ही प्राप्त हो जाते हैं । पहला लाभ तो यह होता है कि दुर्व्यसनों और कुविचारों से छुटकारा पाकर हमारा मन निर्मल होता है । लोभ, मोह, स्वार्थ, क्रोध आदि के दानव हमें पेरशान नहीं करते और अंतःकरण में अलौकिक शांति का साम्राज्य छा जाता है, हताशा व निराशा का कुहासा छंट जाता है तथा मन में उल्लास व उत्साह का सागर हिलोरें लेने लगता है । दूसरा लाभ यह होता है कि हम दूसरों के दोष खोजना छोड़ देते हैं और उनकी अच्छाइयां हमें दिखाई देने लगती हैं । संसार में प्रत्येक व्यक्ति में अच्छे बुरे गुण रहते ही हैं पर उसकी बुराइयों का ही रोना रोते रहने से कोई सुधार तो होता नहीं उलटे वह बुराइयां और बढ़ती जाती हैं । इसके विपरीत उसके अच्छे गुणों को उभारने से वह व्यक्ति भी उत्साहित होता है एवं स्वयं ही अपनी बुराइयों का त्याग करने को तत्पर हो जाता है । इस प्रकार चारों ओर सत्प्रवृत्तियों में गुणात्मक वृद्धि होने लगती है । हमारे अपने सुधार मात्र से ही हमारे चारों ओर का वातावरण दिव्य सुगंध से परिपूर्ण होने लगता है ।

व्यक्ति निर्माण का यह सुफल क्या कम है ? यदि हम इतना भर कर लें और अपने परिवार, पड़ोसियों तथा परिचितों को भी इस मार्ग पर प्रेरित कर सकें तो इस संसार का नारकीय वातावरण नष्ट होकर स्वर्गीय आनंद फैलने में क्या देर लगेगी । इसके लिए सबसे

आवश्यक है कि हम कुविचारों को त्याग कर सद्‌विचार अपनाएं । इसका सबसे सरल उपाय यही है कि दिन के चौबीस घंटों में से कम से कम एक घंटे का समय निकालकर सत्पुरुषों का सत्संग करें उनके प्रवचनों से प्रेरणा ग्रहण करें और सत्साहित्य का स्वाध्याय करके अपने मन को सन्मार्ग पर अग्रसर करें । अपना सुधार संसार की सबसे बड़ी सेवा है और यही आज की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता है ।

युग निर्माण तो स्वतः ही हो जाएगा ।

